MAPH-102 (N)
पाश्चात्य दर्शन

खण्ड–01 ग्रीक दर्शन

इकाई–1 सुकरात पूर्व दर्शन

इकाई–2 सुकरात

इकाई–3 प्लैटो

इकाई–4 अरस्तु

खण्ड–2 मध्यकालीन दर्शन

इकाई–5 एन्सेल्म

इकाई–6 एक्विनास

इकाई–7 आगस्ताइन

खण्ड–3 बुद्धिवाद और अनुभववाद

इकाई–8 द्रव्य की समस्या

इकाई–9 मन और शरीर संबंध की समस्या

इकाई–10 ज्ञान की उत्पत्ति एवं सीमा

इकाई–11 सत्ता दृश्यता है

इकाई–12 कारणता की समस्या

खण्ड–4 काण्ट

इकाई–13 आलोचनावाद

इकाई–14 देश–काल, बुद्धि की कोटिंयां, प्रज्ञा

इकाई–15 संश्लेषणात्मक– प्रागनुभाविक निर्णय

.....000.....

खण्ड–01 ग्रीक दर्शन

खंड परिचय

सुकरात पूर्व दर्शन के विभिन्न पहलुओं का गहन अध्ययन करेंगे। हम प्रमुख दार्शनिकों और उनके विचारों का परिचय देंगे, उनके सिद्धांतों की व्याख्या करेंगे, और यह भी देखेंगे कि कैसे उनके विचारों ने बाद के दार्शनिक चिंतन को प्रभावित किया। साथ ही, हम इस काल के दर्शन की सीमाओं और आलोचनाओं पर भी चर्चा करेंगे।

प्रस्तुत खंड में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि -सुकरात की दार्शनिक पद्धति क्या थी? सुकरात की ज्ञान मीमांसा एवं नीति शास्त्र का क्या स्वरूप था? जब सुकरात कहते हैं कि स्वयं को जानो तो इससे उनका क्या तात्पर्य है? ज्ञान सद्गुण है इस कथन का क्या अर्थ है? सुकरात कहते थे कि "मैं केवल एक बात जानता हूं कि मैं कुछ नहीं जानता" इसका निहितार्थ क्या है?

ज्ञान संप्रत्यात्मक होता है सुकरात के इस कथन से क्या तात्पर्य है? हम प्लेटो के प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत-प्रत्यय सिद्धांत, प्रत्यय सिद्धांत की आलोचना, महत्व, प्लेटो के ज्ञान सिद्धांत(Epistemology), आत्मा का सिद्धांत,प्लेटो के राजनीतिक और नैतिक दर्शन का अध्ययन करेंगे।

हम अरस्तु के विभिन्न क्षेत्रों में दार्शनिक योगदान को समझने का प्रयास करेंगे।हम अरस्तु के तर्कशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धांतों को समझेंगे। अरस्तु के आत्मा सिद्धांत को समझने का प्रयास करेंगे अरस्तु के ईश्वर विषयक मत की समीक्षा करेंगे और यह देखेंगे कि अरस्तु के अनुसार द्रव्य एवं आकार का स्वरूप क्या है साथ ही हम देखेंगे कि अरस्तु का विकासवाद क्या है।

इकाई 01

सुकरात पूर्व दर्शन

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 सुकरात पूर्व दर्शन

1.3 मिलेटस स्कूल

1.4 पाइथागोरस स्कूल

1.5 एलिएटिक स्कूल

1.6 हेराक्लीटस और परिवर्तन का सिद्धांत

1.7 एनेक्सागोरस

1.8 सारांश

1.9 बोध प्रश्न

1.10 उपयोगी पुस्तकें

----------0000----------

1.0 उद्देश्य

इस स्व-अध्ययन सामग्री में, हम सुकरात पूर्व दर्शन के विभिन्न पहलुओं का गहन अध्ययन करेंगे। हम प्रमुख दार्शनिकों और उनके विचारों का परिचय देंगे, उनके सिद्धांतों की व्याख्या करेंगे, और यह भी देखेंगे कि कैसे उनके विचारों ने बाद के दार्शनिक चिंतन को प्रभावित किया। साथ ही, हम इस काल के दर्शन की सीमाओं और आलोचनाओं पर भी चर्चा करेंगे।

आगे बढ़ने से पहले, यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि सुकरात पूर्व दर्शन के बारे में हमारी जानकारी सीमित है। इस काल के अधिकांश दार्शनिकों के मूल लेखन खो गए हैं, और हमें उनके विचारों की जानकारी मुख्य रूप से बाद के लेखकों के उद्धरणों और टिप्पणियों से मिलती है। इसलिए, कई मामलों में, हमें उनके सटीक विचारों के बारे में अनुमान लगाना पड़ता है।

1.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य दर्शन विज्ञान से घनिष्ठ रूप से संबंधित रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि विज्ञानों का आधार अथवा उसका आदिम स्रोत दर्शन शास्त्र ही रहा है और दर्शनशास्त्र ही सभी विज्ञानों की उत्पत्ति का आधार बना है आरंभ में किसी भी विज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था और विकास क्रम में धीरे-धीरे प्रत्येक विज्ञान दर्शनशास्त्र जो कि उसका मूल आधार था वहां से पृथक होते-होते विभिन्न प्रकार के विशिष्ट विज्ञानों के रूप में एक स्वतंत्र विद्या स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ।

पाश्चात्य दर्शन परंपरागत व समष्टि का चिंतन की अपेक्षा मुख्य रूप से वैज्ञानिक एवं व्यक्तिगत चिंतन की ओर अधिक झुकाव रखता है।जहां दार्शनिक प्रवृत्तियां दार्शनिकों के व्यक्तित्व पर आधारित प्रतीत होती हैं पाश्चात्य जगत में जितने दार्शनिक हुए वे अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक सिद्धांतों की आलोचना करके आगे बढ़ते हैं पाश्चात्य दर्शन में मौलिकता एवं नवीनता को अधिक महत्व दिया जाता है एवं परंपरा की स्थिरता को अधिक महत्व नहीं दिया जाता पश्चिम की दार्शनिक परंपरा में परंपरा की अपेक्षा मौलिकता को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो एवं अरस्तु के दर्शन को मुख्य रूप से ग्रीक दर्शन कहा जाता है प्लेटो एवं अरस्तु के ग्रीक दर्शन के पूर्व के दर्शन को ग्रीक पूर्व दर्शन कहते हैं ग्रीक पूर्व दर्शन में मुख्य रूप से सुकरात दर्शन, सुकरात पूर्व दर्शन एवं सोफिस्ट दर्शन को समाहित किया जाता है।

1.2 सुकरात पूर्व दर्शन

सुकरात के पूर्ववर्ती प्रारंभिक अवस्था में ग्रीक दर्शन की प्रवृत्ति प्राकृतिक दृष्टिकोण पर आधारित थी और कालान्तर में यह प्रवृत्ति आध्यात्मिक एवं अन्तर्मुखी हो गयी। सुकरात पूर्व दर्शन, जिसे प्राचीन यूनानी दर्शन का प्रारंभिक चरण भी कहा जाता है, पश्चिमी दर्शन की नींव का प्रतीक है। यह काल लगभग 6ठी शताब्दी ईसा पूर्व से 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व तक फैला हुआ था। इस अवधि के दौरान, कई महत्वपूर्ण दार्शनिकों ने प्रकृति, ब्रह्मांड और मानव अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों पर चिंतन किया। ये विचारक, जिन्हें अक्सर "प्रकृतिवादी" या "प्राकृतिक दार्शनिक" कहा जाता था, अपने समय के पारंपरिक मिथकीय व्याख्याओं से हटकर तर्क और अवलोकन पर आधारित स्पष्टीकरण की ओर बढ़े।

सुकरात पूर्व दार्शनिकों का मुख्य फोकस कॉस्मोलॉजी (ब्रह्मांड विज्ञान) और ऑन्टोलॉजी (अस्तित्व का अध्ययन) पर था। उन्होंने ऐसे प्रश्न पूछे जैसे: "सभी वस्तुओं का मूल तत्व क्या है?", "परिवर्तन कैसे होता है?", और "वास्तविकता की प्रकृति क्या है?" इन प्रश्नों ने न केवल तत्कालीन समाज में बौद्धिक जिज्ञासा को प्रेरित किया, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए दार्शनिक चिंतन की एक नई दिशा भी निर्धारित की। इस काल के दौरान, तीन प्रमुख दार्शनिक स्कूल उभरे:1. मिलेटस स्कूल, 2.पाइथागोरस स्कूल, और 3. एलिएटिक स्कूल। इनके अलावा, कुछ स्वतंत्र विचारक भी थे जिन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन सभी ने मिलकर यूनानी दर्शन की एक समृद्ध परंपरा की नींव रखी, जो बाद में पूरे पश्चिमी दर्शन को प्रभावित करने वाली थी।

1.3 मिलेटस स्कूल

मिलेटस स्कूल, जिसे आयोनियन स्कूल के नाम से भी जाना जाता है, सुकरात पूर्व दर्शन का पहला और सबसे प्रभावशाली स्कूल था। यह स्कूल अपना नाम मिलेटस शहर से प्राप्त करता है, जो प्राचीन यूनान के आयोनिया क्षेत्र में स्थित था और वर्तमान में तुर्की के पश्चिमी तट पर है। मिलेटस स्कूल के तीन प्रमुख दार्शनिक थे:

थेल्स, एनाक्सिमेंडर, और एनाक्सिमेनेस। इन तीनों ने 6ठी शताब्दी ईसा पूर्व में काम किया और उन्हें पश्चिमी दर्शन के संस्थापक माना जाता है।

मिलेटस स्कूल का मुख्य फोकस प्रकृति और ब्रह्मांड की व्याख्या करना था। इन दार्शनिकों ने यह समझने का प्रयास किया कि सभी वस्तुओं का मूल तत्व क्या है, जिसे वे "आर्खे" (arche) कहते थे। उनका मानना था कि यदि वे इस मूल तत्व को समझ लेंगे, तो वे प्रकृति के सभी परिवर्तनों और घटनाओं की व्याख्या कर सकेंगे। यह दृष्टिकोण उस समय के लिए अभूतपूर्व था, क्योंकि इसने पहली बार प्राकृतिक घटनाओं की तार्किक और वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास किया, जो पहले केवल देवताओं और मिथकों के माध्यम से समझाई जाती थीं।

थेल्स (थेलीस)(लगभग 624-546 ईसा पूर्व) को अक्सर पहला दार्शनिक माना जाता है। यूनानी दर्शन में थेलीस सर्वाधिक प्राचीन माने जाते हैं थेलीस को ज्यामिति का जनक भी कहा जाता है इन्होंने आयोनियन दर्शन की स्थापना की थेलीस की ज्यामिति मिस्र देश की परंपरागत ज्यामिति से प्रभावित थी । ग्रीक दर्शन में प्रथम दार्शनिक थेलीज को माना जाता है। थेलीस ने सृष्टि के मूल तत्व की खोज एवं उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया थेलीस सृष्टि के कारण के रूप में ऐसे तत्व की खोज करना चाहते थे जिससे विश्व की अन्य वस्तुएं उत्पन्न हुई हों, जिसमें सृष्टि की समस्त वस्तुएं विलीन होती हों। थेलीस ने पाया कि जल ऐसा मूल तत्व हो सकता है जिससे समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति होती है और अंत में सभी वस्तुएं जल में ही विलीन हो जाती हैं इस प्रकार थेलीस कहीं ना कहीं कार्य करणवाद को भी स्वीकार करते हैं। थेलीस पृथ्वी को एक डिस्क की भांति मानते थे जो कि जल पर तैरती है । जिन्होंने सृष्टि का मूल तत्व जल को स्वीकार किया।

थेलीस सर्वात्मवाद को स्वीकार करते हैं जिसके अनुसार प्रत्येक तत्व में आत्मा अथवा चेतन तत्व का निवास होता है थेलीस मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु में चेतन शक्ति होती है जिस प्रकार चुंबक से अन्य लोहे के कण चिपक जाते हैं उसी प्रकार हमारे जीवन में एक आंतरिक शक्ति होती है , जिसे वे कहते हैं कि सभी

वस्तु में देवता भरे हुए हैं । थेलीस मानते हैं कि सभी चर अचर जीवन में चेतन सत्ता होती है

इस प्रकार थिलीज विश्व की उत्पत्ति की व्याख्या करने में प्रकृतिवाद का समर्थन करते हैं उन्होंने प्रस्तावित किया कि जल ही सभी वस्तुओं का मूल तत्व है। उनका मानना था कि सभी वस्तुएं जल से बनी हैं और अंततः जल में ही वापस लौट जाती हैं। यह विचार आज हमें अजीब लग सकता है, लेकिन यह एक महत्वपूर्ण वैचारिक प्रगति थी। थेल्स ने पहली बार यह सुझाव दिया कि प्रकृति को एक एकल, मौलिक पदार्थ के संदर्भ में समझा जा सकता है, जो बाद में भौतिकवाद के विचार का आधार बना। इसके अलावा, थेल्स ने कई गणितीय और खगोलीय खोजें भी कीं, जिनमें त्रिभुज की समरूपता और सूर्य ग्रहण की भविष्यवाणी शामिल है।

एनाक्सिमेंडर (लगभग 610-546 ईसा पूर्व) थेल्स के शिष्य थे, लेकिन उन्होंने अपने गुरु के विचारों से अलग एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने सुझाव दिया कि मूल तत्व कोई विशेष पदार्थ नहीं हो सकता, बल्कि यह कुछ अनिर्धारित और असीमित होना चाहिए, जिसे उन्होंने "अपेइरोन" (apeiron) कहा। अपेइरोन को एक अनंत, अनिर्धारित पदार्थ के रूप में समझा जा सकता है जो सभी विरोधी गुणों को समाहित करता है। एनाक्सिमेंडर का मानना था कि इस अपेइरोन से ही सभी वस्तुएं उत्पन्न होती हैं और अंततः इसी में वापस विलीन हो जाती हैं। यह विचार बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि इसने पहली बार यह सुझाव दिया कि वास्तविकता का आधार कोई ऐसी चीज हो सकती है जो हमारी इंद्रियों से परे है।

एनाक्सिमेनेस (लगभग 585-525 ईसा पूर्व) एनाक्सिमेंडर के शिष्य थे। उन्होंने फिर से एक विशिष्ट पदार्थ को मूल तत्व के रूप में प्रस्तावित किया, लेकिन इस बार वह पदार्थ था वायु। उनका मानना था कि वायु के घनत्व में परिवर्तन से सभी अन्य पदार्थ बनते हैं - वायु के संघनन से पानी और फिर पृथ्वी बनती है, जबकि इसके विरलीकरण से अग्नि बनती है। एनाक्सिमेनेस का यह विचार महत्वपूर्ण था क्योंकि इसने पहली बार यह सुझाव दिया कि एक ही पदार्थ अपनी अवस्था बदलकर

विभिन्न रूप ले सकता है। यह आधुनिक भौतिकी में पदार्थ की अवस्थाओं के सिद्धांत का एक प्रारंभिक रूप था।

मिलेटस स्कूल के इन तीनों दार्शनिकों ने प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करने के लिए तर्क और अवलोकन का उपयोग किया। उन्होंने देवताओं या अलौकिक शक्तियों पर निर्भर रहने के बजाय, प्रकृति के नियमों और प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास किया। यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक पद्धति का एक प्रारंभिक रूप था और इसने बाद के यूनानी दार्शनिकों को गहराई से प्रभावित किया।

मिलेटस स्कूल के विचारों ने कई महत्वपूर्ण दार्शनिक अवधारणाओं की नींव रखी। उदाहरण के लिए, उनका यह विचार कि सभी वस्तुओं का एक मूल तत्व है, एकत्व के सिद्धांत का आधार बना। उनका यह विश्वास कि प्रकृति नियमों द्वारा संचालित होती है, वैज्ञानिक विधि के विकास में महत्वपूर्ण था। इसके अलावा, उनके विचारों ने बाद के दार्शनिकों को प्रेरित किया कि वे भी प्रकृति और वास्तविकता के बारे में अपने स्वयं के सिद्धांत विकसित करें।

हालांकि, मिलेटस स्कूल के विचारों की कुछ सीमाएं भी थीं। उनके सिद्धांत अक्सर सरलीकृत और अनुभवजन्य प्रमाणों से रहित होते थे। उनके पास प्रयोगशाला या उन्नत उपकरण नहीं थे, इसलिए उनके निष्कर्ष अक्सर अटकलों पर आधारित होते थे। फिर भी, उनका महत्व इस बात में निहित है कि उन्होंने प्रकृति को समझने के लिए एक तार्किक और व्यवस्थित दृष्टिकोण अपनाया।

मिलेटस स्कूल का प्रभाव बाद के यूनानी दार्शनिकों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, हेराक्लीटस ने परिवर्तन के सिद्धांत को आगे बढ़ाया, जबकि एम्पेडोक्लीस ने चार मूल तत्वों (पृथ्वी, वायु, अग्नि, और जल) का सिद्धांत प्रस्तावित किया। प्लेटो और अरस्तू जैसे बाद के दार्शनिकों ने भी मिलेटस स्कूल के विचारों का उल्लेख किया और उन पर टिप्पणी की।

निष्कर्ष के रूप में, मिलेटस स्कूल ने पश्चिमी दर्शन की नींव रखी। उन्होंने प्रकृति और वास्तविकता को समझने के लिए एक नया, तार्किक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो

मिथकों और धार्मिक व्याख्याओं से अलग था। उनके विचार भले ही प्रारंभिक और अपरिष्कृत थे, लेकिन उन्होंने बाद के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। आज भी, जब हम प्रकृति के मूलभूत नियमों और ब्रह्मांड की संरचना के बारे में सोचते हैं, तो हम कुछ हद तक मिलेटस के इन प्राचीन विचारकों के पदचिह्नों पर ही चल रहे हैं।

1.4 पाइथागोरस स्कूल

पाइथागोरस स्कूल, जिसे पाइथागोरियन स्कूल के नाम से भी जाना जाता है, प्राचीन यूनानी दर्शन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। यह स्कूल अपना नाम अपने संस्थापक पाइथागोरस (लगभग 570-495 ईसा पूर्व) से प्राप्त करता है, जो एक प्रसिद्ध गणितज्ञ और दार्शनिक थे। पाइथागोरस स्कूल ने गणित, संगीत, और दर्शन के बीच गहरे संबंधों की खोज की और इसने पश्चिमी विचार पर दीर्घकालिक प्रभाव डाला।

पाइथागोरस का जन्म सामोस द्वीप पर हुआ था, लेकिन उन्होंने अपना अधिकांश जीवन दक्षिणी इटली के क्रोटोन शहर में बिताया, जहां उन्होंने अपना स्कूल स्थापित किया। पाइथागोरस स्कूल केवल एक शैक्षणिक संस्थान नहीं था, बल्कि एक धार्मिक और राजनीतिक समुदाय भी था। इसके सदस्य एक कठोर जीवन शैली का पालन करते थे, जिसमें शाकाहार, ध्यान, और गणित का अध्ययन शामिल था।

पाइथागोरियन दर्शन का मूल सिद्धांत यह था कि संख्याएँ सभी वस्तुओं का आधार हैं और ब्रह्मांड की संरचना को समझने की कुंजी हैं। उनका मानना था कि प्रकृति के सभी पहलुओं को गणितीय संबंधों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है। यह विचार उनके प्रसिद्ध कथन "सब कुछ संख्या है" में व्यक्त होता है।

पाइथागोरियनों ने संख्याओं को केवल मात्रात्मक मूल्य के रूप में नहीं, बल्कि गुणात्मक और आध्यात्मिक महत्व वाले तत्वों के रूप में देखा। उदाहरण के लिए, उन्होंने संख्या एक को एकता और शुरुआत का प्रतीक माना, दो को द्वैतवाद और विभाजन का, तीन को पूर्णता का, और चार को न्याय का। इस प्रकार, उन्होंने

गणित और दर्शन को एक साथ जोड़ा, जो उस समय के लिए एक अभूतपूर्व दृष्टिकोण था।

पाइथागोरियनों की सबसे महत्वपूर्ण खोजों में से एक संगीत के क्षेत्र में थी। उन्होंने पाया कि संगीत के सुरों के बीच सरल गणितीय अनुपात होते हैं। उदाहरण के लिए, एक तार की लंबाई को आधा करने से एक ऑक्टेव ऊंचा सुर उत्पन्न होता है। इस खोज ने उन्हें यह विश्वास दिलाया कि पूरा ब्रह्मांड गणितीय हार्मनी पर आधारित है, जिसे उन्होंने "स्फियर्स की हार्मनी" कहा।

पाइथागोरस को ज्यामिति में कई महत्वपूर्ण योगदानों का श्रेय दिया जाता है, जिनमें सबसे प्रसिद्ध है पाइथागोरस प्रमेय। यह प्रमेय कहता है कि एक समकोण त्रिभुज में, कर्ण का वर्ग अन्य दो भुजाओं के वर्गों के योग के बराबर होता है। हालांकि यह प्रमेय पाइथागोरस से पहले भी ज्ञात था, लेकिन उन्होंने इसका पहला गणितीय प्रमाण दिया। पाइथागोरियनों ने खगोल विज्ञान में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने सुझाव दिया कि पृथ्वी गोल है और यह सूर्य की परिक्रमा करती है, जो उस समय के लिए एक क्रांतिकारी विचार था। उन्होंने यह भी प्रस्तावित किया कि अन्य ग्रह भी हैं जो सूर्य की परिक्रमा करते हैं, जो आधुनिक सौर मंडल के सिद्धांत का एक प्रारंभिक रूप था।

पाइथागोरियन दर्शन में आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धांत भी एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। उनका मानना था कि आत्मा अमर है और एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवास करती है। इस विश्वास के कारण, वे पशुओं की हत्या और मांस खाने के विरोधी थे, क्योंकि उनका मानना था कि पशुओं में भी मनुष्यों की आत्माएँ हो सकती हैं। पाइथागोरस स्कूल ने कई महत्वपूर्ण दार्शनिकों को प्रभावित किया, जिनमें प्लेटो सबसे प्रमुख हैं। प्लेटो के आदर्शवाद और उनके "फॉर्म्स के सिद्धांत" पर पाइथागोरियन विचारों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इसके अलावा, पाइथागोरियनों के गणितीय दृष्टिकोण ने बाद में गैलीलियो और न्यूटन जैसे

वैज्ञानिकों को प्रेरित किया, जिन्होंने प्रकृति के नियमों को गणितीय रूप से व्यक्त करने का प्रयास किया।

हालांकि, पाइथागोरस स्कूल के विचारों की कुछ सीमाएं भी थीं। उनका गणित पर अत्यधिक जोर कभी-कभी अतिवादी हो जाता था, जिससे वे कुछ प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करने में असमर्थ रहते थे। इसके अलावा, उनके कुछ विश्वास, जैसे कि सभी संख्याओं को पूर्णांकों के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जा सकता है, गलत साबित हुए। पाइथागोरस स्कूल का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू उसका गुप्त स्वभाव था। स्कूल के सदस्यों को अपने ज्ञान को गोपनीय रखने की शपथ लेनी पड़ती थी, और कई पाइथागोरियन सिद्धांतों को केवल मौखिक रूप से ही प्रसारित किया जाता था। इस कारण, आज हमारे पास पाइथागोरस और उनके अनुयायियों के मूल विचारों के बारे में सीमित जानकारी है, और हमें अधिकांश जानकारी बाद के लेखकों के माध्यम से ही मिलती है।

निष्कर्ष के रूप में, पाइथागोरस स्कूल ने प्राचीन यूनानी दर्शन और विज्ञान में एक अद्वितीय और महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने गणित, संगीत, और दर्शन के बीच संबंधों की खोज करके एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनके विचारों ने न केवल तत्कालीन समाज को प्रभावित किया, बल्कि आने वाली सदियों में पश्चिमी विचार की दिशा को भी आकार दिया। आज भी, जब हम प्रकृति के नियमों को गणितीय रूप से व्यक्त करने का प्रयास करते हैं, तो हम कुछ हद तक पाइथागोरियन परंपरा का ही अनुसरण कर रहे हैं।

1.5 एलिएटिक स्कूल

एलिएटिक स्कूल प्राचीन यूनानी दर्शन का एक महत्वपूर्ण स्कूल था, जो लगभग 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व में विकसित हुआ। यह स्कूल अपना नाम एलिया नगर से प्राप्त करता है, जो दक्षिणी इटली में स्थित था। एलिएटिक दार्शनिकों ने वास्तविकता की प्रकृति, परिवर्तन की संभावना, और ज्ञान की सीमाओं पर गहन चिंतन किया। उनके विचारों ने बाद के यूनानी दर्शन, विशेष रूप से प्लेटो और अरस्तू के कार्यों पर गहरा

प्रभाव डाला। एलिएटिक स्कूल के तीन प्रमुख प्रतिनिधि थे: जेनोफेन्स, पारमेनिडीज, और जेनो। हालांकि इन तीनों के विचारों में कुछ अंतर थे, फिर भी वे सभी एक मौलिक विचार से जुड़े थे - वास्तविकता की एकता और अपरिवर्तनशीलता का सिद्धांत।

जेनोफेन्स (लगभग 570-478 ईसा पूर्व) को अक्सर एलिएटिक स्कूल का संस्थापक माना जाता है, हालांकि वे स्वयं एलिया में नहीं रहते थे। जेनोफेन्स ने पारंपरिक यूनानी धर्म और उसके अनेकेश्वरवाद की आलोचना की। उन्होंने तर्क दिया कि यदि देवता मौजूद हैं, तो वे एक ही होने चाहिए, न कि कई। उन्होंने एक एकल, सर्वव्यापी, अपरिवर्तनशील ईश्वर की अवधारणा प्रस्तुत की, जो मानवीय गुणों से रहित है। यह विचार बाद में एलिएटिक दर्शन के केंद्रीय सिद्धांत - एकत्व की अवधारणा - का आधार बना।

पारमेनिडीज (लगभग 515-450 ईसा पूर्व) एलिएटिक स्कूल के सबसे प्रभावशाली सदस्य थे। उन्होंने एक काव्य "ऑन नेचर" में अपने दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत किया। पारमेनिडीज का मुख्य तर्क था कि केवल "जो है" वह मौजूद है, और "जो नहीं है" वह नहीं हो सकता। उनका मानना था कि वास्तविकता एक है, अविभाज्य है, अपरिवर्तनशील है, और शाश्वत है। उन्होंने तर्क दिया कि परिवर्तन और गति असंभव हैं, क्योंकि वे "जो नहीं है" की अवधारणा पर निर्भर करते हैं।

पारमेनिडीज ने दो मार्गों की बात की - सत्य का मार्ग और राय का मार्ग। सत्य का मार्ग तर्क और बुद्धि पर आधारित था, जो उनके अनुसार एकत्व और अपरिवर्तनशीलता की ओर ले जाता है। राय का मार्ग इंद्रियों के अनुभव पर आधारित था, जो बहुलता और परिवर्तन का आभास देता है। पारमेनिडीज का मानना था कि केवल पहला मार्ग ही सच्चा ज्ञान की ओर ले जाता है। यह विचार कि वास्तविकता हमारी इंद्रियों द्वारा अनुभव किए जाने वाले जगत से अलग हो सकती है, दर्शन में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। यह प्लेटो के "फॉर्म्स के सिद्धांत" का पूर्वगामी था और बाद

में कांट के "नोमेना" (वस्तु स्वयं) और "फेनोमेना" (प्रतिभास) के बीच के अंतर को प्रभावित करता है।

जेनो (लगभग 490-430 ईसा पूर्व) पारमेनिडीज के शिष्य थे और उन्होंने अपने गुरु के विचारों का बचाव करने के लिए कई प्रसिद्ध तर्क (या विरोधाभास) प्रस्तुत किए। इन तर्कों का उद्देश्य यह दिखाना था कि गति, परिवर्तन और बहुलता की धारणाएँ तार्किक रूप से असंगत हैं। जेनो के सबसे प्रसिद्ध तर्कों में से एक "एकिलीज और कछुए" का विरोधाभास है, जिसमें वे तर्क देते हैं कि एक तेज दौड़ने वाला व्यक्ति कभी भी एक धीमी गति से चलने वाले कछुए को नहीं पकड़ सकता।

जेनो के अन्य प्रसिद्ध तर्कों में "विभाजन का विरोधाभास" और "तीर का विरोधाभास" शामिल हैं। ये तर्क, हालांकि आज हमें भ्रामक लग सकते हैं, गणित और भौतिकी में महत्वपूर्ण विकास के लिए प्रेरणा बने। उदाहरण के लिए, जेनो के तर्कों ने अनंत श्रेणियों और सीमाओं की अवधारणाओं के विकास में योगदान दिया, जो कैलकुलस के आधार हैं।

एलिएटिक स्कूल के विचारों ने यूनानी दर्शन पर गहरा प्रभाव डाला। उनके एकत्व के सिद्धांत और परिवर्तन की असंभवता के विचार ने बाद के दार्शनिकों को इन मुद्दों पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित किया। उदाहरण के लिए, एम्पेडोक्लीस और एनाक्सागोरस ने एलिएटिक तर्कों का सामना करने के लिए नए सिद्धांत विकसित किए, जबकि प्लेटो ने अपने "फॉर्म्स के सिद्धांत" में एलिएटिक विचारों को शामिल किया।

हालांकि, एलिएटिक विचारों की कुछ गंभीर समस्याएं भी थीं। उनका यह दावा कि परिवर्तन और गति असंभव हैं, हमारे दैनिक अनुभव के विपरीत है। इसके अलावा, उनका यह विचार कि इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान भ्रामक है, वैज्ञानिक अन्वेषण के लिए हतोत्साहित करने वाला हो सकता है। फिर भी, एलिएटिक स्कूल का महत्व इस बात में निहित है कि उन्होंने वास्तविकता की प्रकृति और हमारे ज्ञान की सीमाओं के बारे में गहन प्रश्न उठाए। उन्होंने दिखाया कि कैसे तर्क का उपयोग करके हम अपने

सामान्य अनुभवों और धारणाओं को चुनौती दे सकते हैं। उनके विचारों ने बाद के दार्शनिकों को प्रेरित किया कि वे वास्तविकता और ज्ञान की प्रकृति पर गहराई से विचार करें।

निष्कर्ष के रूप में, एलिएटिक स्कूल ने प्राचीन यूनानी दर्शन में एक महत्वपूर्ण मोड़ का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने वास्तविकता, परिवर्तन, और ज्ञान के बारे में मौलिक प्रश्न उठाए, जो आज भी दर्शन में प्रासंगिक हैं। हालांकि उनके कुछ निष्कर्षों को आज अस्वीकार कर दिया गया है, फिर भी उनके विचारों और तर्क की पद्धति का प्रभाव पश्चिमी दर्शन पर लंबे समय तक रहा है।

1.6 हेराक्लीटस और परिवर्तन का सिद्धांत

हेराक्लीटस (लगभग 535-475 ईसा पूर्व) प्राचीन यूनान के एक प्रमुख दार्शनिक थे, जिन्हें अक्सर "अंधेरे का दार्शनिक" कहा जाता था, क्योंकि उनके लेखन अक्सर रहस्यमय और कठिन समझ में आने वाले होते थे। वे एफेसस नगर के थे और उन्हें सुकरात पूर्व दर्शन के सबसे प्रभावशाली विचारकों में से एक माना जाता है। हेराक्लीटस के विचार एलिएटिक स्कूल के विचारों के बिल्कुल विपरीत थे, और उन्होंने एक ऐसा दर्शन प्रस्तुत किया जो निरंतर परिवर्तन और गतिशीलता पर केंद्रित था।

हेराक्लीटस का मुख्य सिद्धांत था कि सब कुछ निरंतर परिवर्तन की स्थिति में है। उनका प्रसिद्ध कथन "पांता रेई" (Panta Rhei) का अर्थ है "सब कुछ बहता है"। उन्होंने कहा, "एक ही नदी में दो बार नहीं उतर सकते", क्योंकि दूसरी बार जब आप उतरते हैं, तो न तो नदी वही होती है और न ही आप। यह विचार परिवर्तन की निरंतरता और वास्तविकता की गतिशील प्रकृति पर जोर देता है।

हेराक्लीटस ने अग्नि को मूल तत्व माना, लेकिन उनके लिए अग्नि केवल एक भौतिक तत्व नहीं था। उन्होंने इसे परिवर्तन और ऊर्जा के प्रतीक के रूप में देखा। उनका मानना था कि सभी वस्तुएं अग्नि से उत्पन्न होती हैं और अंततः अग्नि में ही लौट जाती हैं, एक निरंतर चक्र में। यह विचार न केवल भौतिक परिवर्तन को,

बल्कि ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धांत को भी दर्शाता है, जो आधुनिक भौतिकी का एक मौलिक सिद्धांत है।

हालांकि हेराक्लीटस ने निरंतर परिवर्तन पर जोर दिया, उन्होंने यह भी माना कि इस परिवर्तन में एक अंतर्निहित व्यवस्था या नियम है, जिसे उन्होंने "लोगोस" कहा। लोगोस को एक सार्वभौमिक नियम या तर्क के रूप में समझा जा सकता है जो सभी परिवर्तनों को नियंत्रित करता है। हेराक्लीटस के अनुसार, यह लोगोस ही है जो विरोधाभासों के बीच संतुलन बनाए रखता है और ब्रह्मांड में व्यवस्था लाता है।

हेराक्लीटस ने विरोधाभासों के महत्व पर भी जोर दिया। उनका मानना था कि विरोधी शक्तियां एक दूसरे के साथ संघर्ष करती हैं, लेकिन साथ ही एक दूसरे पर निर्भर भी होती हैं। उदाहरण के लिए, दिन और रात, गर्मी और सर्दी, या युद्ध और शांति - ये सभी एक दूसरे के विपरीत हैं, लेकिन एक दूसरे के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकते। इस प्रकार, हेराक्लीटस ने एक ऐसी वास्तविकता का चित्रण किया जो विरोधाभासों के बीच गतिशील संतुलन पर आधारित है।

हेराक्लीटस ने ज्ञान और बुद्धि पर भी विचार किया। उनका मानना था कि सच्चा ज्ञान लोगोस को समझने में निहित है। उन्होंने कहा कि अधिकांश लोग इस सार्वभौमिक नियम को समझने में असमर्थ हैं, इसलिए वे जीवन में "सोते हुए" की तरह व्यवहार करते हैं। हेराक्लीटस ने व्यक्तिगत अनुभव और चिंतन के महत्व पर जोर दिया, यह कहते हुए कि "मैंने स्वयं की खोज की"। हेराक्लीटस के विचारों ने बाद के दार्शनिकों पर गहरा प्रभाव डाला। प्लेटो ने उनके परिवर्तन के सिद्धांत का उल्लेख किया, हालांकि वह इससे सहमत नहीं थे। स्टोइक दर्शन ने हेराक्लीटस के लोगोस की अवधारणा को अपनाया और विकसित किया। आधुनिक काल में, जर्मन दार्शनिक हेगेल ने अपने द्वंद्वात्मक सिद्धांत में हेराक्लीटस के विचारों से प्रेरणा ली।

हेराक्लीटस के विचारों का महत्व इस बात में निहित है कि उन्होंने एक ऐसी वास्तविकता का चित्रण किया जो गतिशील और परिवर्तनशील है, लेकिन फिर भी

किसी अंतर्निहित नियम द्वारा नियंत्रित है। यह दृष्टिकोण आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण के काफी निकट है, जो प्रकृति को निरंतर परिवर्तन की स्थिति में देखता है, लेकिन इस परिवर्तन को नियंत्रित करने वाले नियमों की खोज करता है।

हालांकि, हेराक्लीटस के विचारों की कुछ सीमाएं भी थीं। उनका लेखन अक्सर अस्पष्ट और व्याख्या के लिए खुला होता था, जिससे उनके सटीक विचारों को समझना कठिन हो जाता था। इसके अलावा, उनका यह दावा कि सब कुछ निरंतर परिवर्तन की स्थिति में है, स्थिरता और निरंतरता की हमारी अनुभूति के विपरीत प्रतीत होता है। निष्कर्ष के रूप में, हेराक्लीटस ने प्राचीन यूनानी दर्शन में एक महत्वपूर्ण और मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनके परिवर्तन, विरोधाभास, और सार्वभौमिक नियम के विचारों ने न केवल उनके समकालीन दार्शनिकों को प्रभावित किया, बल्कि आज भी दर्शन और विज्ञान में प्रासंगिक हैं। हेराक्लीटस के विचार हमें याद दिलाते हैं कि वास्तविकता जटिल और गतिशील है, और इसे समझने के लिए हमें निरंतर परिवर्तन और स्थिरता, विरोध और एकता के बीच संतुलन ढूंढना होगा।

1.7 एनेक्सागोरस

ईसा पूर्व पांचवी सदी में एनेक्सागोरस दार्शनिक हुए जिन्होंने माना की सत नित्य होता है, अविकारी होता है ,उत्पत्ति विनाश से ऊपर होता है। एनेक्सागोरस एम्पेडोक्लीज से सहमत होते हुए मांनते हैं की उत्पत्ति संयोग है और वियोग विनाश है । एनेक्सागोरस के अनुसार चार महाभूत स्वयं मौलिक तत्व नहीं है अपितु मौलिक तत्वों के संयोग से बने हैं मौलिक तत्वों को एनेक्सागोरस बीज या सीड्स कहते हैं यह बीज विश्व भर में व्याप्त होते हैं । समान बीज परस्पर आकर्षित होते हैं एक दूसरे से मिलते हैं और इस प्रकार सृष्टि का निर्माण होता है। परंतु इन बीजों में गति कहां से आती है ?जो यह एक दूसरे से आकर्षित होते हैं और मिलते हैं ! इस गति की समस्या का समाधान के लिए एनेक्सागोरस कहते हैं की गति जड़ बीजों में स्वयं नहीं आती । गति का कारण चेतन तत्व है जो शक्तिमान है जिसे उन्होंने

परम विज्ञान माना । परम विज्ञान सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठाता है और बीजों में गति उत्पन्न करता है।

1.8 सारांश

सुकरात पूर्व दर्शन का अध्ययन कई कारणों से महत्वपूर्ण है। सबसे पहले, यह हमें पश्चिमी दार्शनिक परंपरा के उद्भव और विकास को समझने में मदद करता है। दूसरा, यह दिखाता है कि कैसे मानव मन ने धीरे-धीरे मिथकीय व्याख्याओं से वैज्ञानिक दृष्टिकोण की ओर बढ़ना शुरू किया। तीसरा, इस काल के दार्शनिकों द्वारा उठाए गए कई प्रश्न आज भी प्रासंगिक हैं और आधुनिक दर्शन में चर्चा का विषय बने हुए हैं।

1.9 बोध प्रश्न

1. सुकरात पूर्व दर्शन की विवेचना कीजिए।

2.मिलेटस स्कूल या आयोनियन स्कूल के प्रमुख दार्शनिक विचारों की विवेचना कीजिए।

3. हेराक्लीटस के परिवर्तन सिद्धांत का उल्लेख कीजिए

1.10 उपयोगी पुस्तकें

1. पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।

2. पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3. पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5. पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

इकाई 02

सुकरात

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 सुकरात के दर्शन का उद्देश्य

2.3 सुकरात की आचार मीमांसा

2.4 सार्वभौम नैतिकता

2.5 सदगुण एवं विवेक

2.6 सारांश

2.7 बोध प्रश्न

2.8 उपयोगी पुस्तकें

----------0000----------

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुति इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि -

- सुकरात की दार्शनिक पद्धति क्या थी?

- सुकरात की ज्ञान मीमांसा एवं नीति शास्त्र का क्या स्वरूप था?
- जब सुकरात कहते हैं कि स्वयं को जानो तो इससे उनका क्या तात्पर्य है ?
- ज्ञान सद्गुण है इस कथन का क्या अर्थ है?
- सुकरात कहते थे कि " मैं केवल एक बात जानता हूं कि मैं कुछ नहीं जानता" इसका निहितार्थ क्या है?
- ज्ञान संप्रत्यात्मक होता है सुकरात कि इस कथन से क्या तात्पर्य है ?
- और अज्ञान किस प्रकार सबसे बड़ा पाप है?

2.1 प्रस्तावना

सुकरात का उद्देश्य समाज में व्याप्त अज्ञानजन्य बुराइयों को दूर करके युवाओं को सत्य एवं सदाचार के पथ पर प्रेरित करने का था। सुकरात अंतःकरण की आवाज का महत्व देते थे उन्हें अपने अंतरात्मा की आवाज सुनाई देती थी । सुकरात को सर्वाधिक बुद्धिमान दार्शनिक कहा जाता है। सुकरात की प्रसिद्ध उक्ति है- "मैं केवल एक बात जानता हूं कि मैं कुछ नहीं जानता" सुकरात ने सोफिस्टों द्वारा प्रतिपादित विश्व की यांत्रिक व्याख्या का खंडन किया एवं उसकी प्रयोजनमूलक व्याख्या प्रस्तुत की।

2.2 सुकरात के दर्शन का उद्देश्य

सुकरात के दर्शन का मुख्य उद्देश्य नैतिकता के क्षेत्र में सर्वभौम और वस्तुनिष्ठ मानदंडों की स्थापना करना है। इसके लिए वे ज्ञान मीमांसीय चिंतन को भी आवश्यक मानते हैं ।सुकरात बुद्धि वादी ज्ञान मीमांसा का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने सोफिस्टो की अनुभववादी ज्ञान मीमांसा के निराकरण करने का प्रयास किया। *सोफि स्टो* ने प्रत्यक्ष को ही ज्ञान माना है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना ज्ञान होता है। इस दृष्टि से सत्य और ज्ञान आत्म निष्ठ हो जाता है। सफि स्टो ने ज्ञान, सत्य और श्रेय के सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ मानदंडों को नष्ट कर दिया है।

सुकरात ने सोफिस्टो के मत से असहमति व्यक्त करते हुए यह दावा किया कि समस्त ज्ञान संप्रययात्मक होता है। किंतु उसने इंद्रिय अनुभूति की अपेक्षा नहीं की है। उसका दावा या है कि प्रत्यक्ष अनुभूति भले ही ज्ञान प्राप्ति में महत्वपूर्ण हो किंतु ज्ञान केवल प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं है ।ज्ञान बौद्धिक संप्र प्रत्ययो से उत्पन्न होता है। *दूसरे शब्दों में* *ज्ञान संप्रत्यात्मक होता है* ।

बुद्धि मनुष्यों में व्याप्त एवं सार्वभौम तत्व है इसकी कारण से संप्रयत्मक ज्ञान में एकरूपता पाई जाती है। इस प्रकार सुकरात अपनी बुद्धि वादी ज्ञान मीमांसा में ज्ञान के सार्वभौम आधारों की खोज करने का प्रयास करता है।

2.3 सुकरात की आचार मीमांसा

सुकरात ज्ञान के आचार मूलक (*व्यावहारिक*) पक्ष पर विशेष बल देता है उसके अनुसार ज्ञान और आचरण में एकरूपता होनी चाहिए यदि उनमें एकरूपता सामंजस्य ना हो तो ज्ञान के आधार पर आचरण करना संभव नहीं हो सकता ज्ञान की सार्वभौमिकता और वैधता की स्थापना के लिए सुकरात ने परिभाषाओं को विशेष महत्व दिया है परिभाषाओं के आधार पर ही निश्चचायक ज्ञान की प्राप्ति संभव है परिभाषाओं का संप्र प्त्यायो से घनिष्ठ संबंध होता है ।वस्तुतः परिभाषाएं संप्रयों के प्रारंभिक रूप है इनके अभाव में सर्वभौम ज्ञान असंभव है। प्रश्न उठता है कि सुकरात के अनुसार ज्ञान क्या है? सुकरात ने ज्ञान(knowledge) शब्द का प्रयोग विवेक(Wisdom) के अर्थ में किया है। इस संदर्भ में उसका यह कथन प्रसिद्ध है *ज्ञान* *सद्गुण है* (*knowledge is virtue*) जीवन का परम लक्ष्य सद्गुण है सद्गुरु अथवा नैतिक जीवन ही मनुष्य के लिए परम श्रेय है। चूंकि सुकरात ज्ञान को ही सद्गुण मानता है इसलिए उसके अनुसार ज्ञानी ही सद्गुणी व्यक्ति हो सकता है ज्ञान और सद्गुरु पर संपर् अभिन्न और अभियोजहै। विवेक से युक्त(ज्ञानी) व्यक्ति ही उचित और अनुचित भेद करके शुभ कर्म कर सकता है जिस व्यक्ति को औचित्य का ज्ञान न हो वह नैतिक कम नहीं कर सकता है।

सुकरात के अनुसार अज्ञान ही सबसे बड़ा पाप या अशुभ है क्योंकि यही मनुष्य को अनुचित कार्यों की और प्रवृत्त करता है ।अनैतिक आचरण का कारण सदैव नैतिक आचरण के संप्रत्यय का ज्ञान होता है। अतः अज्ञान ही मनुष्य को पथ -भ्रष्ट (गुमराह) करता है। यह हमें अनुचित कर्मों की ओर ले जाता है यदि मनुष्य यह ज्ञान अर्थात भेद ग्राही विवेक हो जाए कि अमुक कर्म अनुचित है तो वह व्यक्ति उसे कर्म को नहीं कर सकता अतः उचित कर्म करने और नैतिक आचरण के लिए शुभत्व (Goodness) का ज्ञान होना आवश्यक है इससे स्पष्ट है कि सुकरात के अनुसार ज्ञान स्वरूपत: न केवल बौद्धिक है बल्कि उसके साथ-साथ विवेक युक्त भी है यह विवेक युक्त ही प्रत्येक उचित कर्म की तार्किक प्रागपेक्षा है संक्षेप में सत्कर्म करने के लिए उनका विवेक होना अनिवार्य है यह मानव जीवन का मार्गदर्शक सिद्धांत है ।

2.4 सार्वभौम नैतिकता

वास्तव में सुकरात ने नैतिक जीवन की समस्याओं का निराकरण करने के लिए बौद्धिक आधार खोजने का प्रयत्न किया है इस संदर्भ में उसने सोफि स्टो के इस मत का -जो व्यक्ति की इच्छा को संतुष्ट करें वह उसके लिए शुभ है का खंडन किया सुकरात के अनुसार व्यक्त सभी वस्तुओं का मानदंड नहीं हो सकता जिस प्रकार सार्वभौम ज्ञान संभव है उसी प्रकार सर्वभौम नैतिकता भी संभव है समस्त दुराचरण (कदाचार) और बुराइयों के निराकरण का एकमात्र समाधान विवेक है राजव्यवस्था के व्यवस्थित संचालन और न्यायपूर्ण शासक व्यवस्था के समुयन के लिए राज्य को शासन राज्य के कार्य और उद्देश्यों का सम्यक ज्ञान होना चाहिए जब तक मनुष्य को सद्गुण के संप्रत्यय का ज्ञान न हो तब तक वह सदा गुणी या सदाचारी नहीं हो सकता अतः किसी मनुष्य के आत्मसंयमी न्यायी साहसी ध्येय वान आदि होने के लिए उसे उनके संप्रदायों का ज्ञान होना चाहिए।

समुचित आचरण (सही) कर्म को संपन्न करने के लिए हमारी सोच अथवा चिंतन प्रणाली भी सही होनी चाहिए। ज्ञान के अभाव में सद्गुण की प्राप्ति नहीं हो

सकती इससे सिद्ध होता है कि कोई मनुष्य बुराई को जानते हुए उसका आचरण नहीं कर सकता । इससे स्पष्ट है कि सुकरात के लिए उचित अनुचित का विवेक होना ज्ञान का एक सिद्धांत मात्र नहीं है बल्कि यह दृढ़ आस्था (श्रद्धा)का भी विषय है दूसरे शब्दों को यह बौद्धिक होने के साथ-साथ संकल्प कर का भी विषय ज्ञान ही समस्त सत्कर्मों एवं सुभव का मूल्य आधार है। अतः ज्ञान ही सद्गुण है इसका इस प्रकार केवल एक ही सद्गुण है (Virtue is one) और वह सत्गुण ज्ञान है ।

सुकरात विभिन्न सद्गुणों में एकता स्थापित करके या सिद्ध करने का प्रयास करता है की करुणा साहस, न्याय, ध्येय आदि एक ही सत्गुण(विवेक) के विभिन्न रूप या पहलू है उनमें परमसम पर विरोध नहीं होता यह सभी सद्गुण सामंजस पूर्ण है इन पूर्वक सद्गुणों के समंजन का बिना ज्ञान हुए उन पर आचरण नहीं किया जा सकता है वस्तुतः सत्गुण का ज्ञान शिक्षण के द्वारा संभव है किसी व्यक्ति के ज्ञान और आचरण में सामंजस होना उनके विवेक युक्त सद्गुणों पुरुष होने की पहचान है इस प्रकार भारतीय नीतिज्ञों ने ऐसे व्यक्ति को महात्मा और इसके विपरीत जिसके चिंतन और आचरण में एकरूपता का अभाव होता है अतः जिनके कर्म और ज्ञान में सामंजस्य का भाव होता है उसे व्यक्ति को दुष्ट कहा है ।

2.5 सदगुण एवं विवेक

इससे स्पष्ट है कि सुकरात ने विवेक को समस्त सद्गुणों की आधारशिला माना है इसके अंतर्गत समस्त सद्गुणों का समावेश हो जाता है सत्गुण और आनंद को एक दूसरे से पृथक है नहीं किया जा सकता कोई मनुष्य उसे समय तक आनंदमय जीवन ही नहीं व्यतीत कर सकता जब तक उसमें सद्गुण ना हो अतः सतगुण विवेक ही आनंद का स्रोत है इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान से ही आनंद की प्राप्ति हो सकती है चूंकि ज्ञान की शिक्षा जा सकती है और सत्गुण ज्ञान है इसलिए सत्गुण की शिक्षा दी जा सकती है दूसरे शब्दों में सद्गुणों का अभ्यास किया जा सकता है।

सुकरात ने विवेक को ही अचित एवं सात्विक कि कसौटी माना है ज्ञान , सत्य, सत्गुण एवं औचित्य के लिए किसी बाहरी कसौटी की आवश्यकता नहीं है यदि प्रोटागोरस के समान मनुष्य की निजी संवेदनाओं को ज्ञान एवं सत्य की कसौटी माना जाए तो वह व्यक्तिनिष्ठ हो जाएगा चूंकि संवेदन पशुओं को भी होती है इसलिए पशुओं के अनुभव को भी सत्य और ज्ञान की कसौटी मानना पड़ेगा यदि सब मत सत्य हो तो कोई भी मत असत्य नहीं हो सकता है इसके फल स्वरुप सत्य और असत्य में कोई अंतर नहीं किया जा सकता है अतः प्रोटागोरस को यह मान लेना चाहिए कि उसका प्रोटागोरस मत असत्य है ।पोटा गोरस को दूसरों को उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है इससे सिद्ध होता है कि पोटा गोरस का तार्किक आधार आत्मघाती है ।

पोटा गोरस के द्वारा प्रयुक्त कसौटी मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मन दंड है को स्वीकार करने से सभी निर्णयों और स्वयं को उसका मत असंभव सिद्ध हो जाता है अतः सुकरात ने प्रोटागोरस के इस सिद्धांत का निराकरण कर के एवं सद्गुण के लिए सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ मानदंडों की स्थापना पर बल दिया है। सुकरात के अनुसार प्रत्येक निषेधात्मक ज्ञान का एक स्वीकारात्मक आधार होता है ।इसका विवेचन है ही दर्शन का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए असत्य कि संभावना और सत्य अस्तित्व सत्य की संभावना और व्यक्ति को सिद्ध करता है सुकरात का यह कथन *स्वयं को जानो* (know thyself) का अर्थ है अपने ज्ञान और बौद्धिक क्षमता की सीमाओं को समझो आज्ञान का ज्ञान होना ज्ञान की सीमाओं को समझने के लिए आवश्यक है उसके अनुसार केवल विवेक युक्त मनुष्य स्वयं को जाना सकता है इस दृष्टि से आत्मज्ञानी ही आनंदमय जीवन व्यतीत कर सकता है।

क्ष सुकरात की अभिरुचि इसमें थी कि मनुष्य का जीवन आचार व्यवहार में उच्च कोटि का होना चाहिए इसलिए दर्शन कोरा उपदेश एवं भौतिक मनोविनोद नहीं है दर्शन जीवन के लिए है ।एक जीवन पद्धति है उसने एक सामंजस पूर्ण एक संतुलित जीवनचार्य पर विशेष बल दिया वह वासनाओं के नाश पर नहीं बल्कि उनके नियमन एवं आत्म संयम पर बोल देता है या विवेक के द्वारा ही संभव है जिसमें

विवेक नहीं है वह व्यक्ति आत्म संयमी नहीं हो सकता आनंद में जीवन यापन के साथ-साथ सामाजिक कल्याण के लिए भी विवेक एवं आत्म संयम की आवश्यकता होती है सुकरात इस मान्यता का आशय यह है कि ज्ञानी ही सतगुण से संयुक्त हो सकता है नैतिक आचरण का अनुगमन व मनुष्य कर सकता है जिसे अचित के संप्रदाय का ज्ञान हो औचित्य का ज्ञान नैतिक आचरण के अभाव में निरर्थक हो जाता है।

2.6 सारांश

सुकरात के अनुसार जब तक मनुष्य सदगुण के संप्रत्यय को नहीं जान पाता , जब तक वह सद्गुण का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता तब तक वह सद्गुणी और सदाचारी नहीं होता । यदि कोई मनुष्य आत्म संयमी, साहसी धैर्यवान है तो इसका तात्पर्य है कि उसे इन प्रत्ययों का ज्ञान है।

सुकरात ज्ञान को सद्गुण मानते थे और सुकरात ने विभिन्न सद्गुणों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया सुकरात के अनुसार साहस , करुना ,न्याय, धैर्य ये सद्गुण के विभिन्न पक्ष हैं। इनमें किसी प्रकार का आंतरिक विरोध नहीं है यह सभी सामंजस्यपूर्ण हैं। सदगुण का ज्ञान शिक्षण के द्वारा संभव है। किसी व्यक्ति के ज्ञान व आचरण में सामंजस्य ही किसी व्यक्ति को विवेकी ओर सद्गुणी बनाता है । सद्गुण और आनंद एक दूसरे से संयुक्त हैं इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। इन्होंने प्रोटागोरस के सिद्धांत का निराकरण किया और ज्ञान एवं सद्गुण के लिए वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौम मानदंडों की स्थापना पर बल दिया। सुकरात के अनुसार असत्य की संभावना और अस्तित्व सत्य को और उसके अस्तित्व को सिद्ध करता है। उनके “स्वयं को जानों” का तात्पर्य है अपनी ज्ञान एवं बौद्धिक क्षमता की सीमाओं को जानना और इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति विवेकी बने क्योंकि विवेकयुक्त मनुष्य ही स्वयं को जान सकता है सुकरात के दर्शन में इन अच्छाइयों के होने के बावजूद एक पूर्वाग्रह अवश्य है कि मानव के समस्त नैतिक कर्म विवेकपूर्वक ही किया जा सकता है और अनैतिक कर्म अज्ञानजन्य होते हैं।

2.7 बोध प्रश्न

1. “ज्ञान सद्गुण है” की विवेचना कीजिए।

2. किस प्रकार से अज्ञान सबसे बड़ा पाप है?

3. सुकरात की दार्शनिक पद्धति की विवेचना कीजिए।

2.8 उपयोगी पुस्तकें

1.पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।

2.पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4.पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

----------00000----------

इकाई 3

प्लेटो का दर्शन

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 प्लेटो के प्रमुख कार्य

3.3 प्रत्यय सिद्धांत (Theory of Ideas)

3.4 प्रत्यय सिद्धांत की आलोचना और महत्व

3.5 ज्ञान सिद्धांत (Epistemology)

3.6 आत्मा का सिद्धांत

3.7 प्लेटो का राजनीतिक और नैतिक दर्शन

3.8 सारांश

3.9 बोध -प्रश्न

3.10 उपयोगी पुस्तकें

----------0000----------

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुति इकाई के अंतर्गत हम प्लेटो के प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत - प्रत्यय सिद्धांत,प्रत्यय सिद्धांत की आलोचना,महत्व, प्लेटो के ज्ञान

सिद्धांत(Epistemology), आत्मा का सिद्धांत,प्लेटो के राजनीतिक और नैतिक दर्शन का अध्ययन करेंगे।

3.1 प्रस्तावना

प्लेटो का जन्म लगभग 428/427 ईसा पूर्व में एथेंस, ग्रीस में हुआ था। वे एक प्रतिष्ठित और धनी परिवार से थे। उनके पिता अरिस्टन और माता पेरिक्टिओन थीं। प्लेटो का वास्तविक नाम अरिस्टोक्लीस था, लेकिन उन्हें उनके चौड़े कंधों के कारण 'प्लेटो' (जिसका अर्थ है 'चौड़ा') उपनाम दिया गया। यह नाम बाद में उनकी पहचान बन गया। प्लेटो का युग ग्रीक सभ्यता के स्वर्ण काल का अंत और एक नए युग की शुरुआत का प्रतीक था। यह वह समय था जब एथेंस पेलोपोनेसियन युद्ध में हार चुका था और अपनी पूर्व शक्ति और गौरव को खो रहा था। इस अशांत राजनीतिक और सामाजिक वातावरण ने प्लेटो के विचारों और दर्शन को गहराई से प्रभावित किया।

सुकरात का प्रभाव-प्लेटो के जीवन और दर्शन पर सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव उनके गुरु सुकरात का था। सुकरात, जिन्हें अक्सर पश्चिमी दर्शन का जनक माना जाता है, ने प्लेटो को गहराई से प्रेरित और प्रभावित किया। प्लेटो ने अपने अधिकांश लेखन में सुकरात को मुख्य पात्र के प्रत्ययमें चित्रित किया है।सुकरात की मृत्यु (399 ईसा पूर्व में) ने प्लेटो को गहरा आघात पहुंचाया। एथेंस की लोकतांत्रिक सरकार द्वारा सुकरात को मृत्युदंड दिया गया था, जिसने प्लेटो के मन में लोकतंत्र और न्याय के प्रति गंभीर प्रश्न खड़े कर दिए। यह घटना प्लेटो के राजनीतिक दर्शन के विकास में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुई।

अकादमी की स्थापना-लगभग 387 ईसा पूर्व में, प्लेटो ने एथेंस में अकादमी की स्थापना की। यह संस्था, जिसे अक्सर पश्चिमी दुनिया का पहला विश्वविद्यालय माना जाता है, 900 वर्षों तक चली। अकादमी में गणित, खगोल विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान और दर्शन पढ़ाया जाता था। यहां प्लेटो ने अपने दार्शनिक विचारों को विकसित और प्रसारित किया।

3.2 प्लेटो के प्रमुख कार्य

प्लेटो ने अपने विचारों को संवाद (डायलॉग) के रूप में लिखा। उनके प्रमुख कार्यों में शामिल हैं:

1. रिपब्लिक: यह प्लेटो का सबसे प्रसिद्ध कार्य है, जिसमें उन्होंने एक आदर्श राज्य की कल्पना की है।

2. सिम्पोजियम: इसमें प्रेम के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की गई है।

3. फीडो: यह आत्मा की अमरता पर केंद्रित है।

4. टिमाइयस: यह ब्रह्मांड की उत्पत्ति और प्रकृति पर एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

5. थीटेटस: यह ज्ञान की प्रकृति पर केंद्रित है।

6. पारमेनाइडीज: यह प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत पर एक गहन चर्चा प्रस्तुत करता है।

प्लेटो का दर्शन

प्लेटो के दर्शन को आमतौर पर तीन चरणों में विभाजित किया जाता है:

1. प्रारंभिक चरण: इस चरण में, प्लेटो मुख्य प्रत्ययसे सुकरात के विचारों को प्रस्तुत करते हैं। इस काल के संवादों में नैतिक प्रश्नों पर ध्यान केंद्रित है।

2. मध्य चरण: यह प्लेटो के दर्शन का सबसे परिपक्व और मौलिक चरण है। इस दौरान उन्होंने अपने प्रसिद्ध प्रत्ययसिद्धांत और आदर्श राज्य की अवधारणा विकसित की।

3. उत्तर चरण: इस अंतिम चरण में, प्लेटो ने अपने कुछ पूर्व विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा की और उन्हें संशोधित किया।

प्लेटो पश्चिमी दर्शन के सबसे प्रभावशाली विचारकों में से एक हैं। उनके विचारों ने न केवल दर्शन बल्कि राजनीति, कला, साहित्य और विज्ञान को भी गहराई से प्रभावित

किया है। अल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइटहेड ने एक बार कहा था कि पश्चिमी दर्शन का पूरा इतिहास "प्लेटो पर टिप्पणियों की एक श्रृंखला" है। यह कथन प्लेटो के अद्वितीय महत्व और उनके विचारों के दूरगामी प्रभाव को दर्शाता है।

प्लेटो के प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत

3.3 प्रत्यय सिद्धांत (Theory of Ideas)

प्लेटो का प्रत्यय सिद्धांत उनके दर्शन का केंद्रीय तत्व है। यह सिद्धांत वास्तविकता की प्रकृति और ज्ञान के संप्रत्यय को समझने का एक प्रयास है।

प्लेटो का प्रत्यय सिद्धांत (Theory of Ideas) उनके दर्शन का मूल आधार है। इस सिद्धांत के अनुसार, हमारे इस भौतिक जगत से परे एक आदर्श जगत है, जिसमें सभी वस्तुओं और विचारों के पूर्ण, अपरिवर्तनीय और शाश्वत प्रत्ययविद्यमान हैं। ये आदर्श 'प्रत्यय' (Forms) कहलाते हैं। प्लेटो का मानना था कि हमारे इस संसार में जो कुछ भी है, वह इन प्रत्ययों का अपूर्ण प्रतिबिंब मात्र है।

उदाहरण के लिए, जब हम किसी सुंदर फूल को देखते हैं, तो प्लेटो के अनुसार, यह फूल 'सौंदर्य' के प्रत्यय का एक अपूर्ण प्रतिबिंब है। 'सौंदर्य' का पूर्ण और आदर्श प्रत्ययप्रत्यय जगत में मौजूद है। इसी तरह, न्याय, सत्य, अच्छाई जैसे सभी गुणों और विचारों के लिए भी प्रत्यय जगत में आदर्श प्रत्ययहैं।

प्रत्यय सिद्धांत के मुख्य बिंदु:

1. दो जगत: प्लेटो के अनुसार, दो प्रकार के जगत हैं - भौतिक जगत और प्रत्यय का जगत। a) भौतिक जगत: यह वह संसार है जिसे हम अपनी इंद्रियों से अनुभव करते हैं। यह जगत परिवर्तनशील, अस्थायी और अपूर्ण है। b) रूपों का जगत: यह एक अदृश्य, अपरिवर्तनशील और पूर्ण जगत है जहाँ सभी वस्तुओं के आदर्श रूप या प्रत्यय मौजूद हैं।

2. प्रत्यय की विशेषताएँ:

- प्रत्यय शाश्वत और अपरिवर्तनशील हैं।
- वे पूर्ण और आदर्श हैं।
- वे अमूर्त हैं, यानी उन्हें भौतिक रूप से नहीं देखा जा सकता।
- वे स्वतंत्र रूप से मौजूद हैं, भौतिक वस्तुओं से स्वतंत्र।

3. भागीदारी का सिद्धांत: प्लेटो का मानना था कि भौतिक वस्तुएँ अपने संबंधित प्रत्यय में 'भाग लेती' हैं। उदाहरण के लिए, एक सुंदर फूल 'सौंदर्य' के प्रत्यय में भाग लेता है।

4. ज्ञान और प्रत्यय: प्लेटो के अनुसार, सच्चा ज्ञान प्रत्यय का ज्ञान है। भौतिक वस्तुओं का ज्ञान केवल 'विश्वास' या 'राय' है।

5. गुफा का दृष्टांत: प्लेटो ने अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में गुफा के दृष्टांत के माध्यम से प्रत्यय सिद्धांत को समझाया है। इस दृष्टांत में, गुफा में बंधे लोग केवल दीवार पर पड़ने वाली छायाओं को देखते हैं और उन्हें ही वास्तविकता मान लेते हैं। लेकिन जब कोई व्यक्ति गुफा से बाहर निकलता है, तो वह वास्तविक वस्तुओं और प्रकाश (जो प्रत्यय का प्रतीक है) को देखता है।

3.4 प्रत्यय सिद्धांत की आलोचना और महत्व:

अरस्तू की आलोचना: तृतीय पुरुष तर्क

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु के इस सिद्धांत की कड़ी आलोचना की। उन्होंने 'तृतीय पुरुष तर्क' (Third Man Argument) के माध्यम से प्रत्यय सिद्धांत में एक गंभीर दोष को उजागर किया।

अरस्तू का तर्क इस प्रकार था:

1. मान लीजिए कि कोई व्यक्ति सुंदर है।

2. प्लेटो के अनुसार, यह व्यक्ति 'सौंदर्य' के प्रत्यय में भागीदारी के कारण सुंदर है।

3. लेकिन अब हमारे पास दो चीजें हैं जो सुंदर हैं - व्यक्ति और 'सौंदर्य' का प्रत्यय।

4. इन दोनों के बीच समानता की व्याख्या करने के लिए, हमें एक तीसरे 'सौंदर्य' के प्रत्यय की आवश्यकता होगी।

5. यह प्रक्रिया अनंत तक चलती रहेगी, जिससे अनंत प्रत्ययों की श्रृंखला बन जाएगी।

इस तर्क से प्रत्यय सिद्धांत की एक बड़ी कमजोरी सामने आती है। यह दिखाता है कि प्रत्यय सिद्धांत अपने आप में विरोधाभासी है और अनंत प्रतिगमन (infinite regress) की ओर ले जाता है।

भौतिक और प्रत्यय जगत के बीच संबंध की समस्या

प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत की एक अन्य महत्वपूर्ण आलोचना भौतिक जगत और प्रत्यय जगत के बीच संबंध की अस्पष्टता है। प्लेटो कहते हैं कि भौतिक वस्तुएं प्रत्ययों में 'भागीदारी' करती हैं, लेकिन यह स्पष्ट नहीं करते कि यह भागीदारी कैसे होती है।

इस आलोचना के मुख्य बिंदु हैं:

1. अमूर्त और मूर्त के बीच संबंध: प्रत्यय अमूर्त हैं, जबकि भौतिक वस्तुएं मूर्त। प्लेटो यह नहीं बता पाते कि एक अमूर्त प्रत्यय एक मूर्त वस्तु को कैसे प्रभावित कर सकता है।

2. स्थान की समस्या: प्रत्यय कहाँ स्थित हैं? यदि वे किसी स्थान पर हैं, तो वे भौतिक हो जाते हैं। यदि वे कहीं नहीं हैं, तो उनका अस्तित्व कैसे हो सकता है?

3. ज्ञान की समस्या: यदि प्रत्यय इस संसार से पूरी तरह अलग हैं, तो हम उनके बारे में कैसे जान सकते हैं?

4. परिवर्तन की समस्या: यदि प्रत्यय अपरिवर्तनीय हैं, तो वे परिवर्तनशील संसार को कैसे प्रभावित कर सकते हैं?

इन प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर न देने के कारण, प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत को अनेक दार्शनिकों ने अस्वीकार कर दिया।

ओकम का रेजर सिद्धांत

14वीं शताब्दी के दार्शनिक विलियम ऑफ ओकम ने एक सिद्धांत प्रतिपादित किया, जिसे 'ओकम का रेजर' कहा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार, "आवश्यकता से अधिक मान्यताओं को स्वीकार नहीं करना चाहिए।" दूसरे शब्दों में, यदि किसी घटना की व्याख्या दो तरीकों से की जा सकती है, तो अधिक सरल व्याख्या को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत पर इस सिद्धांत को लागू करने पर:

1. प्लेटो का सिद्धांत एक अतिरिक्त जगत (प्रत्यय जगत) की कल्पना करता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

2. यह सिद्धांत वास्तविकता की व्याख्या को और अधिक जटिल बनाता है, क्योंकि अब हमें न केवल भौतिक जगत की, बल्कि एक कल्पित प्रत्यय जगत की भी व्याख्या करनी होगी।

3. ओकम के रेजर सिद्धांत के अनुसार, यदि हम भौतिक जगत की व्याख्या बिना किसी अतिरिक्त जगत की कल्पना के कर सकते हैं, तो वही व्याख्या अधिक तर्कसंगत होगी।

इस प्रकार, ओकम का रेजर सिद्धांत प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत को अनावश्यक , जटिल और अतार्किक ठहराता है।

हालांकि प्रत्यय सिद्धांत की कड़ी आलोचना की गई है, फिर भी कुछ दार्शनिक इसके पक्ष में तर्क देते हैं:

सार्वभौमिकता की व्याख्या: प्रत्यय सिद्धांत यह समझाने में मदद करता है कि हम सार्वभौमिक अवधारणाओं को कैसे समझते हैं। उदाहरण के लिए, हम 'न्याय' की अवधारणा को कैसे समझते हैं, भले ही हमने कभी पूर्ण न्याय नहीं देखा हो।

मूल्यों का आधार: यह सिद्धांत नैतिक और सौंदर्यपरक मूल्यों के लिए एक ठोस आधार प्रदान करता है, जो अन्यथा केवल व्यक्तिपरक प्राथमिकताएं प्रतीत हो सकती हैं।

वैज्ञानिक नियमों की व्याख्या: कुछ दार्शनिकों का तर्क है कि प्राकृतिक नियम प्रत्ययों के समान हैं - वे अपरिवर्तनीय और सार्वभौमिक हैं।मानवीय ज्ञान की प्रकृति: प्लेटो का सिद्धांत यह समझाने में मदद करता है कि हम अपूर्ण संसार में रहते हुए भी पूर्णता की कल्पना कैसे कर पाते हैं।

3.5 ज्ञान सिद्धांत (Epistemology)

प्लेटो का ज्ञान सिद्धांत उनके प्रत्ययसिद्धांत से निकटता से जुड़ा हुआ है। वे मानते थे कि सच्चा ज्ञान रूपों का ज्ञान है।

1. ज्ञान की परिभाषा: प्लेटो के अनुसार, ज्ञान 'सत्य, न्यायोचित विश्वास' है। यानी, कोई विश्वास तभी ज्ञान बन सकता है जब वह सत्य हो और उसके लिए पर्याप्त कारण हों।

2. स्मृति का सिद्धांत (Theory of Recollection): प्लेटो का मानना था कि सीखना वास्तव में पूर्व जन्म में प्राप्त ज्ञान को याद करना है। उनका तर्क था कि आत्मा जन्म से पहले रूपों के जगत में रहती है और वहाँ से ज्ञान प्राप्त करती है।

3. ज्ञान के स्तर: प्लेटो ने ज्ञान के चार स्तर बताए: a) अनुमान (Eikasia): छायाओं और प्रतिबिंबों का ज्ञान। b) विश्वास (Pistis): भौतिक वस्तुओं का ज्ञान। c)

विवेचना (Dianoia): गणित और विज्ञान जैसे विषयों का ज्ञान। d) नोएसिस (Noesis): रूपों का प्रत्यक्ष ज्ञान, जो सबसे उच्च स्तर का ज्ञान है।

4. द्वंद्वात्मक पद्धति: प्लेटो ने तर्क और संवाद के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करने की विधि पर जोर दिया। यह विधि, जिसे द्वंद्वात्मक पद्धति कहा जाता है, विरोधी विचारों के बीच संवाद के माध्यम से सत्य तक पहुंचने का प्रयास करती है।

3.6 आत्मा का सिद्धांत

प्लेटो का आत्मा सिद्धांत उनके दर्शन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। वे मानते थे कि आत्मा शरीर से अलग और अमर है।

1. आत्मा की प्रकृति: प्लेटो के अनुसार, आत्मा अमूर्त, अविनाशी और तर्कसंगत है। यह शरीर का नियंत्रक है।

2. आत्मा के तीन भाग: प्लेटो ने आत्मा को तीन भागों में विभाजित किया: a) तर्कसंगत भाग (Logistikon): यह ज्ञान और तर्क का स्रोत है। b) उत्साही भाग (Thumos): यह भावनाओं और इच्छाओं का स्रोत है। c) अभिलाषी भाग (Epithumetikon): यह शारीरिक इच्छाओं का स्रोत है।

3. आत्मा की अमरता: प्लेटो ने 'फीडो' में आत्मा की अमरता के पक्ष में कई तर्क दिए। उनका मानना था कि आत्मा जन्म से पहले मौजूद थी और मृत्यु के बाद भी रहेगी।

4. पुनर्जन्म: प्लेटो ने पुनर्जन्म की अवधारणा को भी स्वीकार किया। उनका मानना था कि आत्मा एक शरीर से दूसरे में स्थानांतरित होती रहती है।

5. आत्मा और नैतिकता: प्लेटो के अनुसार, एक नैतिक जीवन जीने के लिए आत्मा के तीनों भागों के बीच संतुलन आवश्यक है, जिसमें तर्कसंगत भाग का नेतृत्व हो।

3.7 प्लेटो का राजनीतिक और नैतिक दर्शन

प्लेटो का राजनीतिक दर्शन

प्लेटो का राजनीतिक दर्शन उनके ग्रंथ 'रिपब्लिक' में सबसे व्यापक प्रत्ययसे प्रस्तुत किया गया है। यह दर्शन न्याय, शासन और आदर्श राज्य की अवधारणाओं पर केंद्रित है।

1. न्याय की अवधारणा:

○ प्लेटो के अनुसार, न्याय तब होता है जब समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति अपना कर्तव्य निभाते हैं।

○ उन्होंने व्यक्तिगत न्याय को आत्मा के तीन भागों (तर्कसंगत, उत्साही, अभिलाषी) के बीच संतुलन के प्रत्ययमें परिभाषित किया।

○ सामाजिक न्याय तब होता है जब समाज के तीन वर्ग (शासक, रक्षक, उत्पादक) अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं।

2. आदर्श राज्य की संरचना: प्लेटो ने एक आदर्श राज्य की कल्पना की, जिसमें तीन वर्ग होते हैं: a) शासक वर्ग (दार्शनिक-राजा): ये बुद्धिमान और ज्ञानी व्यक्ति होते हैं जो राज्य का नेतृत्व करते हैं। b) रक्षक वर्ग: ये साहसी और शक्तिशाली व्यक्ति होते हैं जो राज्य की रक्षा करते हैं। c) उत्पादक वर्ग: ये व्यापारी, किसान और कारीगर होते हैं जो राज्य की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।

3. दार्शनिक-राजा की अवधारणा:

○ प्लेटो का मानना था कि राज्य का शासन दार्शनिकों द्वारा किया जाना चाहिए।

○ उनका तर्क था कि केवल दार्शनिक ही सत्य और न्याय को समझ सकते हैं और इसलिए वे ही सबसे अच्छे शासक हो सकते हैं।

4. शिक्षा का महत्व:

○ प्लेटो ने एक व्यापक शिक्षा प्रणाली की रूपरेखा प्रस्तुत की जो शासकों और रक्षकों को तैयार करने के लिए डिज़ाइन की गई थी।

○ इस शिक्षा प्रणाली में शारीरिक प्रशिक्षण, संगीत, गणित, और अंत में दर्शनशास्त्र शामिल था।

5. कम्युनिज्म की अवधारणा:

○ प्लेटो ने शासक और रक्षक वर्गों के लिए एक प्रकार के कम्युनिज्म का प्रस्ताव रखा।

○ उनका मानना था कि इन वर्गों के पास निजी संपत्ति नहीं होनी चाहिए और उन्हें साझा आवास में रहना चाहिए।

○ यह व्यवस्था भ्रष्टाचार और स्वार्थ को रोकने के लिए थी।

6. लोकतंत्र की आलोचना:

○ प्लेटो ने लोकतंत्र की आलोचना की, उन्होंने इसे अराजकता की ओर ले जाने वाला माना।

○ उनका मानना था कि आम जनता को शासन करने का ज्ञान नहीं होता और वे भावनाओं से प्रेरित होकर निर्णय लेते हैं।

7. न्याय और कानून:

○ प्लेटो ने कानून के शासन पर जोर दिया, लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि कानून दार्शनिक-राजा के विवेक से कम महत्वपूर्ण है।

○ उनका मानना था कि एक आदर्श राज्य में, न्याय कानून से अधिक महत्वपूर्ण है।

प्लेटो का नैतिक दर्शन

प्लेटो का नैतिक दर्शन उनके प्रत्ययसिद्धांत और आत्मा के सिद्धांत से निकटता से जुड़ा हुआ है।

1. सदगुण की अवधारणा:

○ प्लेटो के अनुसार, सदगुण ज्ञान है। उनका मानना था कि जो व्यक्ति अच्छाई को जानता है, वह अच्छा कार्य करेगा।

○ उन्होंने चार मुख्य सदगुणों की पहचान की: बुद्धिमत्ता, साहस, संयम, और न्याय।

2. आत्मा और नैतिकता:

○ प्लेटो ने आत्मा के तीन भागों (तर्कसंगत, उत्साही, अभिलाषी) को तीन सदगुणों से जोड़ा:

- तर्कसंगत भाग - बुद्धिमत्ता
- उत्साही भाग - साहस
- अभिलाषी भाग - संयम

○ न्याय तब होता है जब ये तीनों भाग संतुलन में होते हैं और तर्कसंगत भाग नेतृत्व करता है।

3. अच्छाई का रूप:

○ प्लेटो के अनुसार, 'अच्छाई का रूप' सभी रूपों में सर्वोच्च है।

○ यह सभी नैतिक और सौंदर्यपरक मूल्यों का स्रोत है।

○ अच्छाई के प्रत्ययको समझना नैतिक जीवन का लक्ष्य है।

4. आनंद और नैतिकता:

○ प्लेटो ने आनंद को नैतिकता का आधार मानने से इनकार किया।

- उनका मानना था कि केवल सदगुण ही वास्तविक खुशी ला सकता है।

5. न्याय का महत्व:

- प्लेटो के लिए, न्याय सबसे महत्वपूर्ण सदगुण था।

- उन्होंने तर्क दिया कि एक न्यायपूर्ण व्यक्ति, भले ही वह कष्ट भोग रहा हो, एक अन्यायी व्यक्ति से अधिक खुश होगा।

6. ज्ञान और नैतिकता:

- प्लेटो का मानना था कि नैतिक ज्ञान सिखाया जा सकता है।

- उन्होंने जोर दिया कि नैतिक शिक्षा समाज का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है।

7. आत्म-नियंत्रण:

- प्लेटो ने आत्म-नियंत्रण को एक महत्वपूर्ण नैतिक गुण माना।

- उनका मानना था कि व्यक्ति को अपनी इच्छाओं और भावनाओं पर नियंत्रण रखना चाहिए और तर्क द्वारा निर्देशित होना चाहिए।

8. मिथ्या के उपयोग का नैतिक औचित्य:

- 'रिपब्लिक' में, प्लेटो ने कुछ परिस्थितियों में शासकों द्वारा 'नोबल लाइज़' (उदात्त मिथ्या) के उपयोग का समर्थन किया।

- यह एक विवादास्पद विचार है जो नैतिक दुविधाओं को उठाता है।

प्लेटो के राजनीतिक और नैतिक दर्शन का प्रभाव

प्लेटो के इन विचारों ने पश्चिमी राजनीतिक और नैतिक चिंतन पर गहरा प्रभाव डाला है:

1. उनके आदर्श राज्य की अवधारणा ने बाद के यूटोपियन विचारों को प्रेरित किया।

2. उनके न्याय के सिद्धांत ने कानूनी और राजनीतिक दर्शन को प्रभावित किया।

3. उनके नैतिक विचारों ने ईसाई नैतिक दर्शन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला।

4. उनकी शिक्षा की अवधारणा ने पश्चिमी शैक्षिक परंपराओं को आकार दिया।

हालांकि, प्लेटो के कई विचारों की आलोचना भी हुई है, विशेष रूप से उनके अधिनायकवादी प्रवृत्तियों और लोकतंत्र की आलोचना के लिए। फिर भी, उनके विचार आज भी राजनीतिक और नैतिक चर्चाओं में प्रासंगिक बने हुए हैं।

3.8 सारांश

प्लेटो का प्रत्यय सिद्धांत, पाश्चात्य दर्शन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह सिद्धांत हमें वास्तविकता, ज्ञान और मूल्यों के बारे में गहराई से सोचने के लिए प्रेरित करता है। हालांकि अधिकांश आधुनिक दार्शनिक इस सिद्धांत को उसके मूल रूप में स्वीकार नहीं करते, फिर भी इसने दर्शन, विज्ञान और धर्म में विचारों के विकास को प्रभावित किया है। प्रत्यय सिद्धांत की आलोचना हमें यह समझने में मदद करती है कि कैसे दार्शनिक विचारों का परीक्षण और परिष्करण होता है, और यह भी कि कैसे एक महान विचार भी गहन जांच और विश्लेषण से गुजर सकता है।

प्लेटो का राजनीतिक दर्शन, आलोचनाओं के बावजूद, राजनीतिक चिंतन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर है। यह हमें राज्य, समाज, न्याय और शासन के बारे में गहराई से सोचने के लिए प्रेरित करता है। हालांकि आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों में प्लेटो के कई विचार अस्वीकार्य हो सकते हैं, फिर भी उनके द्वारा उठाए गए प्रश्न - जैसे कि एक न्यायसंगत समाज कैसा होना चाहिए, शासकों में कौन से गुण होने चाहिए, शिक्षा की क्या भूमिका होनी चाहिए - आज भी प्रासंगिक हैं।

प्लेटो के राजनीतिक दर्शन की आलोचना हमें यह समझने में मदद करती है कि कैसे राजनीतिक विचारों का विकास होता है, और यह भी कि कैसे समाज और मानवीय मूल्यों के बदलने के साथ-साथ हमारी राजनीतिक अवधारणाएं भी बदलती हैं। यह आलोचनात्मक दृष्टिकोण हमें अपने वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक संस्थानों पर

भी पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करता है।, प्लेटो के दर्शन की आलोचना हमें यह सिखाती है कि किसी भी महान विचारक या दार्शनिक के विचारों को अंधानुकरण न करके, उनका गहन विश्लेषण और मूल्यांकन करना चाहिए। यह दृष्टिकोण हमें अपने स्वयं के विचारों और मान्यताओं पर भी प्रश्न उठाने और उन्हें लगातार परिष्कृत करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

3.9 बोध -प्रश्न

1. प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत की विवेचना कीजिए।

2.प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत की आलोचना की पड़ताल कीजिए।

3. प्लेटो की आत्मा विषयक मत की समीक्षा कीजिए।

3.10 उपयोगी पुस्तकें

1.पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।

2.पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4.पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

----------000---------

इकाई 4 - अरस्तू

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 अरस्तू का दार्शनिक योगदान

4.3 अरस्तू का तर्कशास्त्र

4.4 अरस्तू का आत्मा का सिद्धांत

4.5 कारणता सिद्धांत

4.6 द्रव्य एवं आकार

4.7 विकासवाद

4.8 ईश्वर

4.9 अरस्तू के बाद ग्रीक चिन्तन

4.10 सारांश

4.11 बोध- प्रश्न

4.12 उपयोगी पुस्तकें

----------00000----------

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हम अरस्तु के विभिन्न क्षेत्रों में दार्शनिक योगदान को समझने का प्रयास करेंगे।हम अरस्तु के तर्कशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धांतों को समझेंगे। अरस्तु के आत्मा सिद्धांत को समझने का प्रयास करेंगे अरस्तु के ईश्वर विषयक मत की समीक्षा करेंगे और यह देखेंगे कि अरस्तु के अनुसार द्रव्य एवं आकार का स्वरूप क्या है साथ ही हम देखेंगे कि अरस्तु का विकासवाद क्या है । और यह किस प्रकार से ईश्वर से संबंधित है। हमारा अरस्तु के कारणता सिद्धांत का भी अध्ययन करेंगे।

4.1 प्रस्तावना

अरस्तू (384-322 ईसा पूर्व) प्राचीन यूनान के एक महान दार्शनिक और वैज्ञानिक थे। उन्हें पाश्चात्य दर्शन का जनक माना जाता है। अरस्तू का जन्म मैसेडोनिया के स्टैगिरा नामक शहर में हुआ था। उनके पिता निकोमैकस राजा अमिंतास द्वितीय के दरबारी चिकित्सक थे।अरस्तू के बचपन और किशोरावस्था के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। हालांकि, यह माना जाता है कि उनके पिता से उन्हें प्रकृति और जीवविज्ञान में गहरी रुचि विरासत में मिली। 17 वर्ष की आयु में, अरस्तू को उच्च शिक्षा के लिए एथेंस भेजा गया, जहाँ वे प्लेटो की अकादमी में शामिल हुए।अरस्तू ने लगभग 20 वर्षों तक अकादमी में अध्ययन और अध्यापन किया। इस दौरान उन्होंने प्लेटो के विचारों से गहराई से परिचित होने का अवसर पाया। हालांकि, धीरे-धीरे उन्होंने अपने गुरु के कुछ सिद्धांतों से असहमति व्यक्त करना शुरू कर दिया और अपने स्वतंत्र दार्शनिक विचार विकसित किए।347 ईसा पूर्व में प्लेटो की मृत्यु के बाद, अरस्तू ने अकादमी छोड़ दी और एशिया माइनर चले गए। वहाँ उन्होंने कुछ वर्षों तक विभिन्न विषयों पर शोध किया और अपने दार्शनिक विचारों को और अधिक परिष्कृत किया।342 ईसा पूर्व में, मैसेडोनिया के राजा फिलिप द्वितीय ने अरस्तू को अपने पुत्र अलेक्जेंडर (जो बाद में अलेक्जेंडर द ग्रेट के नाम से प्रसिद्ध हुए) का शिक्षक नियुक्त किया। अरस्तू ने लगभग तीन वर्षों तक अलेक्जेंडर को शिक्षा दी।335 ईसा पूर्व में, अरस्तू एथेंस लौट आए और अपना स्वयं का विद्यालय 'लाइसियम' की स्थापना की। यहाँ उन्होंने 12 वर्षों तक अध्यापन और शोध कार्य

किया। इस अवधि में उन्होंने अपने अधिकांश महत्वपूर्ण दार्शनिक और वैज्ञानिक ग्रंथों की रचना की।323 ईसा पूर्व में अलेक्जेंडर की मृत्यु के बाद, एथेंस में मैसेडोनिया विरोधी भावनाएँ उभरीं। अरस्तू को अलेक्जेंडर का समर्थक माना जाता था, इसलिए उन्हें एथेंस छोड़ना पड़ा। वे चैल्किस चले गए, जहाँ 322 ईसा पूर्व में उनकी मृत्यु हो गई।

अरस्तू की प्रमुख रचनाएँ

अरस्तू ने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रंथों की रचना की। उनकी कुछ प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं:

1. ऑर्गेनन (तर्कशास्त्र पर)
2. फिजिक्स (प्रकृति और गति के सिद्धांत)
3. मेटाफिजिक्स (अधिभौतिक दर्शन)
4. डी एनिमा (आत्मा या मन के सिद्धांत)
5. निकोमैकियन एथिक्स (नैतिकता और सदाचार)
6. पॉलिटिक्स (राजनीति और शासन)
7. पोएटिक्स (काव्यशास्त्र)
8. रेटोरिक (वाक्पटुता)

इनके अलावा, उन्होंने जीवविज्ञान, खगोलशास्त्र, मनोविज्ञान और अन्य विषयों पर भी लिखा।

4.2 अरस्तू का दार्शनिक योगदान

अरस्तू का दार्शनिक योगदान अत्यंत व्यापक और गहन है। उन्होंने दर्शन के लगभग हर क्षेत्र में मौलिक विचार प्रस्तुत किए। उनके कुछ प्रमुख योगदान निम्नलिखित हैं:

1. तर्कशास्त्र का व्यवस्थित विकास

2. भौतिक जगत और परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या

3. पदार्थ और रूप का सिद्धांत

4. कारणता का सिद्धांत

5. नैतिकता और सदाचार का सिद्धांत

6. राजनीति और शासन के सिद्धांत

7. सौंदर्यशास्त्र और काव्य सिद्धांत

अरस्तू के इन योगदानों ने न केवल उनके समकालीन दर्शन को प्रभावित किया, बल्कि आने वाली सदियों तक पश्चिमी और इस्लामी दर्शन पर गहरा प्रभाव डाला।

अरस्तू की कार्यप्रणाली

अरस्तू की कार्यप्रणाली उनके गुरु प्लेटो से काफी भिन्न थी। जहाँ प्लेटो अधिक आदर्शवादी और अमूर्त विचारों पर जोर देते थे, वहीं अरस्तू ने अनुभवजन्य अवलोकन और व्यावहारिक दृष्टिकोण पर अधिक बल दिया।

अरस्तू की कार्यप्रणाली के कुछ प्रमुख पहलू:

1. अनुभवजन्य अवलोकन: अरस्तू का मानना था कि ज्ञान का प्राथमिक स्रोत इंद्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव है।

2. वर्गीकरण और विश्लेषण: उन्होंने विभिन्न विषयों और घटनाओं का व्यवस्थित वर्गीकरण और विश्लेषण किया।

3. तार्किक विचार: अरस्तू ने तर्क और तार्किक विचार प्रक्रिया पर बहुत जोर दिया।

4. समग्र दृष्टिकोण: उन्होंने विभिन्न विषयों के बीच संबंधों की खोज की और एक समग्र दृष्टिकोण अपनाया।

5. प्रश्न पूछना: अरस्तू हमेशा नए प्रश्न पूछते थे और उनके उत्तर खोजने का प्रयास करते थे।

इस प्रकार, अरस्तू ने एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया, जो उनके दर्शन की एक विशिष्ट विशेषता है।

4.3 अरस्तू का तर्कशास्त्र

तर्कशास्त्र का महत्व

अरस्तू को आधुनिक तर्कशास्त्र का जनक माना जाता है। उन्होंने तर्क के नियमों का व्यवस्थित अध्ययन किया और उन्हें एक विज्ञान के रूप में स्थापित किया। अरस्तू के अनुसार, तर्कशास्त्र सभी विज्ञानों का आधार है और सही ज्ञान प्राप्त करने का एक उपकरण है।

तर्कशास्त्र के प्रमुख सिद्धांत

त्रिपदी न्याय (Syllogism)

त्रिपदी न्याय अरस्तू के तर्कशास्त्र का मूल आधार है। यह एक तार्किक तर्क है जिसमें दो आधार वाक्य (premises) और एक निष्कर्ष (conclusion) होता है। उदाहरण के लिए:

- सभी मनुष्य नश्वर हैं। (बड़ा आधार वाक्य)
- सुकरात एक मनुष्य है। (छोटा आधार वाक्य)
- इसलिए, सुकरात नश्वर है। (निष्कर्ष)

अरस्तू ने त्रिपदी न्याय के विभिन्न प्रकारों और उनके नियमों का विस्तृत वर्णन किया।

तार्किक वर्ग (Logical Classes)

अरस्तू ने वस्तुओं और विचारों को वर्गों में विभाजित करने की अवधारणा प्रस्तुत की। उन्होंने बताया कि कैसे एक वर्ग दूसरे वर्ग का उपवर्ग हो सकता है, और इस प्रकार कैसे वर्गों के बीच संबंध स्थापित किए जा सकते हैं।

विरोधाभास का सिद्धांत (Law of Contradiction)

यह सिद्धांत कहता है कि कोई कथन और उसका विरोधी कथन एक साथ सत्य नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए, "यह पेड़ हरा है" और "यह पेड़ हरा नहीं है" दोनों कथन एक साथ सत्य नहीं हो सकते।

तृतीय पक्ष के बहिष्कार का नियम (Law of Excluded Middle)

इस नियम के अनुसार, किसी कथन और उसके विरोधी कथन के बीच कोई तीसरा विकल्प नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, या तो "यह पेड़ हरा है" या "यह पेड़ हरा नहीं है" - इनके अलावा कोई तीसरा विकल्प नहीं है।

तर्क के प्रकार

अरस्तू ने तर्क के दो प्रमुख प्रकारों की पहचान की:

1.निगमनात्मक तर्क (Deductive Reasoning)

इसमें सामान्य नियम से विशिष्ट निष्कर्ष निकाला जाता है। त्रिपदी न्याय निगमनात्मक तर्क का एक उदाहरण है।

2.आगमनात्मक तर्क (Inductive Reasoning)

इसमें विशिष्ट उदाहरणों से सामान्य नियम का निर्माण किया जाता है। उदाहरण के लिए, कई कौवों को काला देखकर यह निष्कर्ष निकालना कि सभी कौवे काले होते हैं।

तर्कदोष (Fallacies)

अरस्तू ने विभिन्न प्रकार के तर्कदोषों की पहचान की और उनका वर्गीकरण किया। उन्होंने बताया कि कैसे गलत तर्क या भ्रामक तर्क का उपयोग किया जा सकता है। कुछ प्रमुख तर्कदोष हैं:

- व्यक्तिगत आक्रमण (Ad Hominem)
- भावनात्मक अपील (Appeal to Emotion)
- गलत कारण-परिणाम संबंध (False Cause)
- स्ट्रॉमैन तर्क (Straw Man Argument)

तर्कशास्त्र का प्रभाव और महत्व

अरस्तू का तर्कशास्त्र न केवल दर्शन बल्कि विज्ञान, गणित, कानून और अन्य क्षेत्रों में भी बहुत महत्वपूर्ण साबित हुआ। यह तार्किक सोच और वैज्ञानिक पद्धति का आधार बना। आधुनिक काल में, यद्यपि तर्कशास्त्र के नए रूप विकसित हुए हैं, फिर भी अरस्तू के मूल सिद्धांत अभी भी प्रासंगिक और महत्वपूर्ण हैं।

अरस्तू का तर्कशास्त्र उनके समग्र दर्शन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह उनकी वैज्ञानिक पद्धति और ज्ञान प्राप्ति के दृष्टिकोण का आधार है। अगले खंड में, हम अरस्तू के भौतिक विज्ञान और प्रकृति दर्शन पर चर्चा करेंगे, जो उनके तर्कशास्त्र पर आधारित है।

4.4 अरस्तू का आत्मा का सिद्धांत

अरस्तू ने आत्मा को शरीर का रूप (form) माना, जो शरीर को जीवन और गतिविधि प्रदान करता है। उन्होंने आत्मा को "जीवित शरीर की प्रथम पूर्णता" (first actuality of a living body) के रूप में परिभाषित किया।

आत्मा के प्रकार -अरस्तू ने तीन प्रकार की आत्माओं की पहचान की: वनस्पति आत्मा (Vegetative Soul): यह पौधों में पाई जाती है और पोषण, वृद्धि और प्रजनन के लिए जिम्मेदार है। पशु आत्मा (Animal Soul): यह जानवरों में पाई

जाती है और वनस्पति आत्मा के कार्यों के साथ-साथ संवेदना और गति के लिए भी जिम्मेदार है। मानव आत्मा (Human Soul): यह मनुष्यों में पाई जाती है और पिछले दोनों प्रकार की आत्माओं के कार्यों के साथ-साथ तर्क और विचार के लिए भी जिम्मेदार है।

अरस्तू अपने दार्शनिक चिंतन में तत्वमीमांसा की मूल समस्या अर्थात् जगत की व्याख्या एवं मूल तत्व के स्वरूप का सिद्धांत डेमोक्रेटस एवं प्लेटो के चिन्तन के आधार पर करते हैं। डेमोक्रेटस ने परमाणुवादी चिंतन के द्वारा भौतिक जगत को सत् कहा है जबकि फोटो वस्तुओं के आकार या प्रत्यय को यथार्थ मानते हैं। किन्तु अरस्तू के अनुसार जड़ द्रब्य एवं प्रत्यय स्वतंत्र रूप से सत् नही हो सकते अर्थात् दोनों मिलकर ही सत् है जहां आकार है वहां द्रब्य है तथा जहां द्रव्य है वहां आकार है।

4.5 कारणता सिद्धांत

जगत की वस्तुओं के अस्तित्व की व्याख्या के लिए अरस्तू आवश्यक एवं पर्याप्त तत्वों का समावेश कारणता के अन्तर्गत करते हैं। कारणता के व्यापक अर्थ में चार प्रकार के कारणों उपादान निमित्त, आकारिक कारण - एवं प्रयोजन मूलक का उल्लेख किया जाता है।

उपादान कारण- जिस किसी भी वस्तु के आधार पर कोई नई वस्तु उत्पन्न हो रही है। उसे आधारभूत वस्तु को उपादान कहते हैं। परम्परागत रूप में जड़तत्व को उपादान माना जाता है, किन्तु अरस्तू के दशक में इसका तात्पर्य भिन्न है जो वस्तु बनायी जाती है या बनती है वह कार्य है और जिन वस्तुओं के बनायी जाती है या बनती है वह कार्य है और जिन वस्तुओं से बनायी जाती है वह उपादान कारण होती है।

इस दृष्टि से यदि एक विचार से दूसरा विचार उत्पन्न हो रहा है तो पहला विचार उपादान कारण है। यहां विशेष तथ्य यह है कि जहां एक ओर परम्परागत अर्थों में जड़ वस्तु का रूपान्तरण जड़ में ही होता है अर्थात् जड़ से रूपान्तरित होकर

नयी वस्तु जड़ ही रहती है वहीं अरस्तू के दर्शन में जड़ रूपान्तरित होकर आकार भी हो सकता है।

निमित्त कारण -जो गति या परिवर्तन का प्रवर्तक है वह निमित्त कारण है। स्वयं उपादान कारण गतिमान या परिवर्तनशील नहीं हो सकता। अतः निमित्त कारण का होना अनिवार्य है। अरस्तू ने गति या परिवर्तन को व्यापक अर्थों में व्याख्यायित करके 4 प्रकार के परिवर्तनों तात्विक, गुणात्मक, परिमाणात्मक एवं संचरण का उल्लेख किया है। इनमें से किसी भी प्रकार की गति के लिए निमित्त कारण का होना अनिवार्य है।

आकारिक कारण - यह किसी वस्तु का सारतत्व है। इसे वस्तु का संप्रत्यय भी कहा जा सकता है। अरस्तू का सारतत्व है। इसे वस्तु का संप्रत्यय भी कहा जा सकता है। अरस्तू का आकारिक कारण उन्हे प्लेटोे के प्रत्यय के निकट ला देता है। वस्तुतः अरस्तू के दर्शन में परिवर्तन के पश्चात वस्तु जो स्वरूप ग्रहण करती है वही आकार है। इस दृष्टि से वस्तु का पूरा संगठन कार्य संरचना इसमें शामिल हो जाते हैं।प्रयोजनमूलक कारण - जिस उद्देश्य की पूर्ति हेतु कार्य की उत्पत्ति होती है वह प्रयोजन कारण होता है। जैसे- मेज बनाने की प्रक्रिया में पूर्ण मेज का निर्माण करना प्रयोजन कारण है।

(नोट:-उपर्युक्त कारण किसी वस्तु के निर्माण के लिए अनिवार्य है। घड़े के निर्माण में मिट्टी उपादान कारण, कुम्हार निमित्त कारण, घड़े का स्वरूप आकारिक कारण एवं पूर्ण घड़ा बनाने का लक्ष्य प्रयोजन कारण है।)

उपर्युक्त वर्णित चार कारणों को किसी कार्य के सम्पादन हेतु अरस्तू अनिवार्य एवं पर्याप्त मानते हैं। इनके आधार पर विकसित चिन्तन के अन्तर्गत अरस्तू निमित्त आकारिक एवं प्रयोजन मूलक कारण का समावेश आकार में करते हैं। क्योंकि यह तीनो कारण आकार की ही भिन्न-भिन्न अवस्थायें है। आकारिक कारण किसी वस्तु का सारतत्व या प्रत्यय है तथा प्रयोजन कारण उस वस्तु के संप्रत्यय का यथार्थ रूप में रूपान्तरण है। निमित्त कारण के सन्दर्भ में कह सकते हैं कि वस्तु का अन्तिम

लक्ष्य अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करना होता है। जैसे- कुम्भकार का लक्ष्य ही उसकी समस्त क्रियाओं को संचालित करता है अर्थात् अरस्तू के अनुसार किसी वस्तु का प्रयोजन ही उसका निमित्त कारण है। इन आधारों पर अरस्तू निमित्त आकारिक एवं प्रयोजनमूलक कारण को आकार में समाविष्ट करके उपादान कारणों को द्रव्य के रूप में स्वतंत्र रखते हैं।

4.6 द्रव्य एवं आकार

अरस्तू का आकार सामान्य या विचार स्वरूप है और जड़ द्रव्य विशेष एवं पूर्ण रूप से भौतिक है। इस प्रकार अरस्तू समस्त कारणों को अन्तर्भाव आकार एवं द्रव्य करके समस्त सृष्टि की व्याख्या करते हैं। अरस्तू के अनुसार द्रव्य एवं आकार सतत् परिवर्तनशील है। जो द्ररव्य है वह आकार भी हो सकता है और जो आकार है वह द्रव्य भी हो सकता है। यही नहीं एक वस्तु एक दृष्टिकोण से द्रव्य है वही दूसरे दृष्टिकोण को आकार है। सभी प्रकार के परिवर्तन से जो परिवर्तन होता है वह द्रव्य है जिस ओर परिवर्तन होता है आकार है। दूसरे शब्दों में जो रूप धारण करता है वह द्रव्य है एवं जिसका रूप धारण होता है वह आकार है जैसे-लकड़ी द्रव्य है और मेज आकार है।

स्पष्टतः आकार का अर्थ आकृति नहीं है क्योंकि द्रव्य आकार के रूप में परिवर्तन होता रहता है। जबकि आकृति वह है जो सदैव स्थिर अथवा आकृति रहती है। इसलिए अरस्तू कहते हैं कि आकार का अर्थ कार्य-व्यापार होता है। जिसमें आकृति भी शामिल हो जाती है। यहां कार्य व्यापार का अर्थ है वह वस्तु किसलिए बनी है और जिस लिए बनी है वही उसका कार्यव्यापार अथवा आकार होता है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर अरस्तू द्रव्य और आकार को स्पष्ट करते हैं। द्रव्य अधिष्ठान होता है। जबकि आकार सारतत्व या गुण के रूप में होता हैं द्रव्य के विभिन्न स्तरों के मध्य अन्तर नहीं किया जा सकता है। इनके मध्य भेद का आधार आकार होता है। जैसे पीतल व सोने में भेद केवल सारतत्व का है न कि द्रव्य का। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि द्रव्य एवं आकार परस्पर विरोधी है। यदि

काल की दृष्टि से देखा जाय तो द्रव्य पहले और आकार की स्थिति बाद में आती है। द्रव्य का उद्देश्य आकार के स्वरूप को ग्रहण करना होता है। इसलिए अरस्तू द्रव्य एवं आकार को सापेक्ष कर परस्पर निर्भरता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।

4.7 विकासवाद

अरस्तू मानते हैं कि जगत में एक प्रकार का विकास है जिसका उद्देश्य आकार की प्राप्ति करना है। जगत में जो गति है वह कोई आंतरिक गति नहीं है जो पीछे से धक्का देती है बल्कि यह गति चुम्बक की तरह है जो वस्तुओं को अपनी ओर आकर्शित की तरह है जो वस्तुओं को अपनी ओर आकर्शित करती है अर्थात द्रव्य का लक्ष्य वास्तविकता को प्राप्त करना।

अरस्तू के विकासवादी सिद्धान्त में प्राचीन ग्रीक से चली आ रही दो आतिवादी मान्यताओं का समन्वय है। एक के अनुसार सत् का अर्थ होता है 'नित्य' जबकि असत् का अर्थ है 'जिसका कभी अस्तित्व न हो'। अरस्तू के अनुसार असत् का अर्थ है 'सम्भाव्यता' और सत् का अर्थ है वास्तविकता। विकास का उद्देश्य सम्भाव्यता का वास्तविकता में परिवर्तन है अर्थात् कुछ भी वास्तविक नहीं है। सब कुछ सम्भाव्य है। वास्तविकता तो केवल आकारों का आकार है जिसे अरस्तू ईश्वर कहते हैं। विकासवाद का लक्ष्य इसी विशुद्ध आकार की प्राप्ति करना है। अरस्तू मानते हैं कि सभी वस्तुएं आकार ग्रहण करने की ओर अग्रसर है। जब एक बार आकार अपना वास्तविक रूप धारण कर लेता है तो वह पुनः सम्भाव्यता में परिवर्तित हो जाता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया शुद्ध आकार को प्रकट करने की ओर गतिशील है।

विकासवादी सिद्धान्त की व्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत करने से अरस्तू को विकासवाद का प्रवर्तक कहा जाता है। अरस्तू के अनुसार द्रव्य स्वयं को विकसित आकारों में व्यक्त कर रहा है। विकास प्रक्रिया में सबसे निम्नतर अवस्था में निरपेक्ष द्रव्य है जिसे आकार शून्य कहा गया है। जबकि सर्बाेच्च शिखर पर निरपेक्ष आकार अर्थात् ईश्वर है।

- निरपेक्ष आकार

- अन्य ग्रह नक्षत्र
- मनुश्य जगत
- प्राणी जगत
- वनस्पति जगत
- यांत्रिक जगत
- निरपेक्ष द्रव्य

विकास की प्रक्रिया में जो वस्तुयं निरपेक्ष आकार की ओर बढ़ रही है वे अधिक विकसित हैं। अरस्तू मानते हैं कि प्रकृति का संचालन यांत्रिक दृष्टि से नहीं बल्कि प्रयाजनमूलक दृष्टि से हो रहा है। इस विकास क्रम में सबसे नीचे जड़ द्रव्य है जिसमें आकार नगण्य मात्रा में रहता है। इसके बाद यांत्रिक जगत उपस्थित रहता है। यांत्रिक जगत से ऊपर स्थित वनस्पति जगत अपना पोषण करने के साथ ही अपनी जाति का प्रजनन करता है। इस क्रम में निम्न प्रकार के प्राणी अर्थात् पषुजगत की उपस्थिति होती है। जिनका एकमात्र कार्य अपना-पोषण करना है।

इस क्रम में मानव जगत की स्थिति आती है। सृश्टि में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अपने प्रयोजन को जानता है। अन्य प्राणी अपने कर्माेंं को संचालन सहज प्रवृत्तियों से करते हैं।

4.8 ईश्वर

अरस्तू के विकासवाद में सर्वोच्च स्थिति पर आकारों का आकार ईश्वर है। ईश्वर ही निमित्त आकारिक एवं प्रयोजनमूलक कारण है। अरस्तू के अनुसार ईश्वर शुद्ध आकार है। किन्तु यह केवल एक आदर्श है। अनन्त काल में भी इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। आकारों का आकार ईश्वर परोक्ष रूप से सभी वस्तुओं को अपनी ओर आकर्षित करता है। जैसे प्रेमिका अपने प्रेमी को आकर्षित करती है। इस प्रकार ईश्वर

समस्त सृष्टि का आदि प्रवर्तक है, आदि चालक है जो कि स्वयं अपरिवर्तित रहता है।

अरस्तू के समान ही भारतीय दर्शन में सांख्य दार्शनिक प्रकृति के आधार पर विकास को स्पष्ट करते हैं। वहां भी पुरुष एवं प्रकृति के रूप में द्वैतवाद पाया जाता है। किन्तु सांख्य के विपरीत अरस्तू आदि प्रवर्तक के रूप में ईश्वर की रचना करते हैं जबकि सांख्य निरीश्वरवादी है। पाश्चात्य दर्शन में लाइबनित्ज और हेगल भी विकासवाद को मान्यता देते है किन्तु अरस्तू से भेद यह है कि दोनों अपने दर्शन की शुरुआत अद्वैत तत्व से करते हैं जबकि अरस्तू अपने दर्शन का आधार द्रव्य एवं आकार के रूप में द्वैतवादी संकल्पना को बनाते हैं।

प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत में उपस्थित विसंगतियों को दूर करने के प्रयास में अरस्तू का सिद्धांत स्वयं द्वैतवाद से ग्रसित हो जाता है। प्रो0 जेलर अपनी पुस्तक 'आउटलाइन आफ द हिस्ट्री आफ ग्रीक फिलासफी में कहते हैं कि सम्पूर्ण दर्शन में कहीं न कहीं द्वैत बना रहता है। यद्यपि अरस्तू आरम्भ में द्रव्य एवं आकार को समान महत्व देते हैं। किन्तु अन्ततः आकार ही महत्वपूर्ण हो जाता है। पुनः अरस्तू द्वारा प्रतिपादित चारों कारणों में से आकारिक, निमित्त एवं प्रयोजन मूलक कारण आकार में समाहित हो जाते हैं फिर भी उपादान कारण एवं आकार का द्वैत बना रहता है।

अरस्तू का कारणता सिद्धांत आधुनिक समय में स्वीकार्य नहीं है। वर्तमान समय में कारण कार्य के आधार पर घटनाओं की व्याख्या की जाती है। किन्तु अरस्तू के सिद्धांत में प्रयोजन मूलक कारण पूर्ववर्ती घटना न होकर भविष्यवर्ती प्रयोजन है।

समीक्षकों के अनुसार अरस्तू के 'कारण' मानव निर्मित वस्तुओं के सन्दर्भ में स्पष्ट किये जा सकते हैं अर्थात् चारों कारणों को वैचारिक रूप से पृथक किया जा सकता है किन्तु अरस्तू दावा करते हैं कि उनका कारणता का सिद्धांत मानव निर्मित वस्तुओं के लिए ही नहीं बल्कि प्राकृतिक परिवर्तन को भी स्पष्ट करना है।

किन्तु यह सत्य नहीं है। प्राकृतिक परिवर्तन को भी स्पष्ट करना है किन्तु यह सत्य नहीं है। प्राकृतिक परिवर्तन में चारों कारण चिन्हित नहीं किए जा सकतें

उपर्युक्त आक्षेप पर अरस्तू का पक्ष यह हो सकता है कि मानव निर्मित वस्तुओं में लक्ष्य चेतन रूप से मन में विद्यमान रहता है। जबकि प्रकृति में यह चारो कारण अचेतन रूप से विद्यमान है। इस व्यवस्था को हेगल व मार्क्स भी स्वीकार करते हैं यद्यपि प्राकृतिक परिवर्तनों की व्याख्या के लिए यह पर्याप्त नहीं है। समीक्षकों के अनुसार एक-दूसरे से परस्पर स्वतंत्र एवं अलक आकार व द्रव्य विकास के लिए किस प्रकार संयुक्त होते हैं अथवा विभिन्न प्रकार के आकारों में सम्बन्ध क्या है आदि प्रष्नों का उत्तर अरस्तू के दर्शन में संतोशप्रद नहीं मिलता। अरस्तू की सिद्धंात की विसंगतियों के सन्दर्भ में प्रो0 डब्ल्यू0 सी0 स्टेस अपनी पुस्तक में कहते हैं कि यह द्वैतवाद नहीं बल्कि शब्दों की भ्रामकता है। यह ठीक है कि अरस्तू अकार को प्राथमिकता देते हैं किन्तु यहां उनका द्वैतवाद नहीं बल्कि प्रयोजनवाद सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त अरस्तू का ईश्वर भी विसंगतियों से ग्रस्त है। गतिरहित ईश्वर के द्वारा सृष्टि के परिवर्तन एवम् गति की व्याख्या निर्दोष रूप से नहीं की जा सकती। यहां पर अरस्तू तार्किक व्याख्या करने के बजाय उपमाओं का सहारा लेते हैं जो कि समीक्षकों को मान्य नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि अरस्तू ने द्रव्य और आकार रूपी द्वैत के बजाय सृष्टि की व्याख्या लाइबनित्ज एवं हेगल की तरह अद्वैत से की होती तो उनका अधिक तार्किक होता। फिर भी सृष्टि के विकास की तार्किक व्याख्या में उनका प्रयास सराहनीय रहा है जिसके फलस्वरूप उन्हे विकासवादी सिद्धांतों का प्रवर्तक माना गया है। उन्होंने ग्रीक दर्शन की कमियों को दूर करके परिस्कृत रूप में दर्शन को गतिशील किया है। जिसका प्रभाव सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन में विशेषकर लाइबनित्ज और हेगल के दर्शन में परिलक्षित होता है।

4.9 अरस्तू के बाद ग्रीक चिन्तन

ग्रीक दर्शन के दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में प्लेटो व अरस्तू के दर्शन पर आधारित अनेक सम्प्रदाय जैसे- सेरेनिक, स्टोइक, एपीक्यूरियन, संदेहवादी एवं नव्य प्लेटोवाद आदि का विकसित हुई किन्तु उनपर अत्यधिक प्रभाव सुकरात का ही रहा।

सिनिक सम्प्रदाय के संस्थापक एन्टीस्थनीज एवम् डायोस्थनीज समझे जाते हैं। इन्होंने सद्गुण विषयक सुकरात के चिन्तन को एकमात्र आधार मानते हुए घोषित किया कि सुकरात का जीवन ही उनकी दिशा का साकार रूप है। उनके अनुसार सच्चा सद्गुण सन्यास एवं तप में है; जिसमंे सुख, सम्पत्ति जैसे भौतिक सुखों के प्रति उदासीनता बरती जानी चाहिए। यह दार्शनिक विश्व नागरिकता के पोषण एवं प्रकृति के अनुसार जीवन यापन के समर्थक रहे हैं। सिनिक त्याग भाव अपनाकर फकीरों की तरह जीवन जीते थे। यह सभ्य जीवन की अवहेलना भी करते रहे। इसलिए सामान्य लोगों का विश्वास भी इन पर अधिक दिनों तक नहीं रहा।

सेरेनिक सम्प्रदाय के संस्थापक एरिस्टिपस सुकरात के अनुयायी रहे हैं; उनके अनुसार सुकरात का प्रमुख चिन्तन सद्गुण से व्यक्तियों को लाभ पंहुचाना है। इसलिए इस सम्प्रदाय के अनुयायी व्यक्तिनिष्ठ सुख एवं क्षणिक शारीरिक सुखों को परम नैतिक लक्ष्य मानते थे। इनका विशेष यह भी है कि वे सामान्यों को सार्वभोमिकता का निराकरण करते हैं। यद्यपि सिनिक एवं सेरेनिक दोनांे ने सुकरात शिक्षा को आंशिक रूप में लिया किन्तु उनका सुझाव सोफिस्टों के चिन्तन से अधिक प्रभावित हुआ फिर भी विश्व नागरिकता एवं विश्वबंधुत्व की संकल्पना को प्रस्तुत करके उन्होंने दर्शन को नया आयाम दिया। यद्यपि योग्य वस्तुओं के प्रति उपेक्षा के कारण सिनिक विश्व नागरिकता की शिक्षा देते थे। कालान्तर में सिनिक से स्टोइक दर्शन का उदय हुआ। सेरेनिक से विकसित एपिक्यूरियनवाद के संस्थापक एपिक्यूरियस ने सुखवाद को स्वीकार कर उसे परिस्कृत किया। उनका मत था कि शारीरिक सुख अधिक श्रेष्ठ है। सुख प्राप्ति की अपेक्षा दुख निवारण पर अधिक ध्यान देना चाहिए। उनका प्रसिद्ध कथन है कि जब तक हम जीवित है तब हम नहीं होते तो फिर चिन्ता क्यों करना। इसके अतिरिक्त उनका महत्वपूर्ण कथन है कि

देवता लोग अपने में मगन रहते हैं और वे सांसारिक व्यक्तियों के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करते हैं।

सिनिकवाद का विकसित रूप स्टोइकवाद में मिलता है। जिनके अनुसार सृष्टि का मूल कारण भौतिक ईश्वर है। जो कि बुद्धिपरक है इसलिए मानव की नैतिकता उसकी बुद्धि परखता पर निर्भर करती है। इसीलिये मानव का सद्गुण इसी में है कि वह भावना, संवेगों आदि का विश्वास न करके अपना जीवन तर्क पर अर्थात् बुद्धि के आधार पर संचालित करे। उनका स्पष्ट मत था कि पूर्ण उपेक्षा भाव से बुद्धि के द्वारा संचालित कर्म करना ही सच्चा आनंद है।

यूक्लिड के द्वारा स्थापित मेगारी सम्प्रदाय ने सुकरात और इलियाई (पर्मेनाइडीज) के दर्शन में समन्वय करने का प्रयास किया गया है। इसके अन्तर्गत सुकरात के शुभ का समन्वय पर्मेनाइडीज के सत् से किया गया है। यूक्लिड के अनुसार शुभ, सत् और ईश्वर एक ही तत्व के विभिन्न नाम है। शुभत्व का ज्ञान ही एकमात्र सद्गुण और मानवजीवन का परम श्रेय है। सोफिस्ट, सिनिक, सेरेनिक, प्लेटो, अरस्तू आदि विचारकों द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतों के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्न अलग-अलग मतों के कारण वस्तु के अस्तित्व एवं ज्ञान की प्राप्ति के सन्दर्भ में संशय उत्पन्न होने लगा जो कि ग्रीक दर्शन की स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में संशयवाद के लिए उत्तरदायी है। जिसका श्रेय पाइरो को है। संशयवाद या संदेहवाद वह दार्शनिक सिद्धांत है जिनके अनुसार किसी भी प्रकार के ज्ञान प्राप्ति की सम्भावना नहीं है। अर्थात् ज्ञान असम्भव है। पाइरो के पूर्व प्रोटोगोरस ने कहा था कि, 'मानव ही सब प्रकार के ज्ञान का मापदण्ड है।' अर्थात् सर्वव्यापक ज्ञान के माप की कोई कसौटी नहीं है। जार्जियस के अनुसार यदि कोई सत्ता हो भी तो उसे नहीं जाना जा सकता। उपर्युक्त मत के आधार पर पाइरो ने व्यवस्थित रूप से संशयवाद की स्थापना की। उन्होंने ज्ञान आधारित संशयवादी निष्कर्ष को नैतिकता के सन्दर्भ में भी लागू किया और क्रमशः संशय ज्ञान और नैतिकता के साथ ही संशयवाद आदि के प्रति भी फलित होने लगा।

4.10 सारांश

प्लेटो एवं अरस्तू के उत्तराधिकारियों जैसे सेरेनिक, स्टोइक आदि ने प्रत्येक व्यक्ति के अपने हित एवं लक्ष्य के बारे में अधिक चिन्तन किया। किन्तु बिना वाह्य जगत के ज्ञान से आत्म ज्ञान संभव नहीं होता। इस दृष्टि से नब्य प्लेटोवाद रूपी दर्शन का आविर्भाव होता है क्योंकि संशयवाद अंतिम रूप से संतोष नहीं दे पाता है इसलिए नव्य प्लेटोवादियों ने सृष्टि की व्याख्या करके तार्किकता को स्थापित करने का अन्तिम प्रयास किया। संक्षेप मे नव्यप्लेटोवादियों के महान दार्शनिक प्लाटिनस ने तीन प्रकार की सत्ताओं का उल्लेख किया है -1. अद्वैत ईश्वर, 2. परम सत्ता (नाउस), 3. विश्वात्मा अर्थात् सर्जनात्मक शक्ति। नव्य प्लेटोवाद उपर्युक्त तीन सत्ताआंे के आधार पर सृष्टि की व्याख्या करते हैं।

प्लेटो एवं अरस्तू के उपरान्त जो भी दार्शनिक चिन्तन विकसित हुआ उसका सर्वोच्च विन्दु नव्यप्लेटोवाद था। किन्तु धीरे-धीरे दार्शनिक चिन्तन रहस्यवाद की ओर उन्मुख हो गया। रोमन सम्राट जसटीस द्वारा नव्य प्लेटोवादियों द्वारा संचालित अकादमी को बन्द करने से ग्रीक दर्शन का अन्त हो गया।

4.11 बोध- प्रश्न

1. अरस्तु के ईश्वर के संप्रत्यय की विवेचना कीजिए ।

2. अरस्तु के कारणता सिद्धांत की व्याख्या कीजिए ।

3. अरस्तु के जगत संबंधी व्याख्या की समीक्षा कीजिए।

4.12 उपयोगी पुस्तकें

1.पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।

2.पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4.पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

खण्ड–2 मध्यकालीन दर्शन

खण्ड परिचय

प्रस्तुत खण्ड में हम संत एन्सेल्मए संत थामस एक्विनास और संत आगस्टाइन के दार्शनिक चिंतन से परिचित होंगे। संत एन्सेल्म का जन्म 1033 ई. में इटली के पीडमॉन्ट क्षेत्र के अओस्ता शहर में हुआ था। उनके पिता गंडुल्फो एक सम्पन्न भूस्वामी थे, जबकि उनकी माता एरमेनबर्गा एक धार्मिक महिला थीं। एन्सेल्म के बचपन से ही धार्मिक रुझान थे, और उन्होंने अपने प्रारंभिक वर्षों में ही ईश्वर और आध्यात्मिकता के बारे में गहन चिंतन शुरू कर दिया था। प्लेटो की आदर्श रूपों की अवधारणा और नव-प्लेटोवाद की एकता और उत्तमता की धारणाएँ एन्सेल्म के ईश्वर संबंधी विचारों में प्रतिबिंबित होती हैं।

संत थॉमस एक्विनास (1225-1274) मध्ययुगीन युरोप के सबसे प्रभावशाली दार्शनिकों और धर्मशास्त्रियों में से एक थे। वे रोमन कैथोलिक चर्च के एक प्रमुख शिक्षक और इतालवी डोमिनिकन क्रम के एक सदस्य थे। एक्विनास का जन्म इटली के एक कुलीन परिवार में हुआ था, और उन्होंने अपना जीवन ईसाई धर्म और दर्शन के अध्ययन और शिक्षण में समर्पित किया। एक्विनास ने अपने जीवनकाल में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की

आगस्टाइन ने कई मौलिक दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया, जैसे ईश्वर की अवधारणा,आत्मा की अवधारणा,जगत् का स्वरूप, समय की प्रकृति, अशुभ की समस्या, और ज्ञान का स्रोत। उनके आत्म-चिंतन संबंधी विचारों, धार्मिक चिंतन ,दार्शनिक चिंतन का अध्ययन इन जटिल विषयों पर गहरी समझ विकसित करने में मदद कर सकता है।

इकाई 5

सेंट एन्सेल्म

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 मध्ययुगीन दर्शन का संदर्भ

5.3 ऑन्टोलॉजिकल तर्क(सत्तामूलक तर्क)

5.4 आलोचनाएँ और प्रतिक्रियाएँ

5.5 सारांश

5.6 बोध प्रश्न

5.7 उपयोगी पुस्तकें

----------00----------

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम सेंट एन्सेल्म के विभिन्न दार्शनिक विचारों का अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार से सेंटें एन्सेल्म अपने प्रत्यय सत्ता मूलक तर्क द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं और हम यह भी देखेंगे की विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रत्यय सत्ता मूलक तर्क की किस प्रकार से आलोचना की गई है।

5.1 प्रस्तावना

संत एन्सेल्म मध्ययुगीन दर्शन के सबसे प्रभावशाली और महत्वपूर्ण विचारकों में से एक थे। वे 11वीं शताब्दी के एक प्रमुख दार्शनिक, धर्मशास्त्री और कैंटरबरी के आर्चबिशप थे। उन्हें अक्सर स्कोलास्टिक दर्शन का जनक माना जाता है, जो मध्ययुगीन यूरोप में प्रचलित एक दार्शनिक और धार्मिक शिक्षण पद्धति थी। एन्सेल्म ने तर्क और विश्वास के बीच संबंध स्थापित करने का प्रयास किया, जिसने बाद के दार्शनिक और धार्मिक चिंतन को गहराई से प्रभावित किया।

संत एन्सेल्म का जन्म 1033 ई. में इटली के पीडमॉन्ट क्षेत्र के अओस्ता शहर में हुआ था। उनके पिता गंडुल्फो एक सम्पन्न भूस्वामी थे, जबकि उनकी माता एरमेनबर्गा एक धार्मिक महिला थीं। एन्सेल्म के बचपन से ही धार्मिक रुझान थे, और उन्होंने अपने प्रारंभिक वर्षों में ही ईश्वर और आध्यात्मिकता के बारे में गहन चिंतन शुरू कर दिया था।

महत्वपूर्ण कृतियाँ

एन्सेल्म ने अपने जीवनकाल में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। उनकी कुछ प्रमुख कृतियाँ हैं:

1. मोनोलोजियन (1076): यह ईश्वर के अस्तित्व के बारे में एक तार्किक चर्चा है।

2. प्रोस्लोजियन (1077-78): इसमें उन्होंने अपना प्रसिद्ध ऑन्टोलॉजिकल तर्क प्रस्तुत किया।

3. कर डेउस होमो (1098): यह ईसा मसीह के अवतार के तर्क पर केंद्रित है।

4. डी कॉन्कॉर्डिया प्रीसाइंशिया एट प्रीडेस्टिनेशनिस (1107-08): यह ईश्वरीय पूर्वज्ञान और मानव स्वतंत्र इच्छा के बीच संबंध पर एक ग्रंथ है।

5.2 मध्ययुगीन दर्शन का संदर्भ

संत एन्सेल्म का दर्शन मध्ययुगीन यूरोप के विशिष्ट बौद्धिक वातावरण में विकसित हुआ। इस काल में, दर्शन और धर्म अक्सर अंतर्गुंफित थे, और बौद्धिक चिंतन का मुख्य लक्ष्य ईसाई सिद्धांतों को तर्कसंगत आधार प्रदान करना था। यह वह समय था जब यूरोप में ज्ञान का पुनर्जागरण हो रहा था, और प्राचीन यूनानी दार्शनिकों, विशेष रूप से अरस्तू के कार्यों की पुनः खोज हो रही थी।

प्लेटो और नव-प्लेटोवाद का प्रभाव

एन्सेल्म के दर्शन पर प्लेटो और नव-प्लेटोवाद का गहरा प्रभाव था। प्लेटो की आदर्श रूपों की अवधारणा और नव-प्लेटोवाद की एकता और उत्तमता की धारणाएँ एन्सेल्म के ईश्वर संबंधी विचारों में प्रतिबिंबित होती हैं। उन्होंने इन विचारों को ईसाई धर्मशास्त्र के साथ संश्लेषित किया, जिससे एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ।

अगस्टीनियन परंपरा

संत ऑगस्टिन के कार्य ने एन्सेल्म को गहराई से प्रभावित किया। ऑगस्टिन की तरह, एन्सेल्म ने भी विश्वास और समझ के बीच संबंध पर जोर दिया। उन्होंने ऑगस्टिन के "विश्वास करो ताकि समझ सको" के सिद्धांत को अपनाया और इसे

अपने दर्शन का एक केंद्रीय तत्व बनाया। एन्सेल्म का मानना था कि विश्वास समझ की ओर ले जाता है, और समझ विश्वास को मजबूत करती है।

तर्क और विश्वास का संश्लेषण

एन्सेल्म के दर्शन की एक प्रमुख विशेषता थी तर्क और विश्वास का संश्लेषण। उन्होंने माना कि तर्क और विश्वास परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। उनका मानना था कि तार्किक चिंतन ईसाई सिद्धांतों को समझने और उनकी पुष्टि करने में मदद कर सकता है। यह दृष्टिकोण बाद में स्कोलास्टिक दर्शन का एक प्रमुख लक्षण बन गया।

अरस्तू का प्रभाव

हालांकि एन्सेल्म के समय में अरस्तू के अधिकांश कार्य पश्चिमी यूरोप में अज्ञात थे, फिर भी अरस्तू के तर्कशास्त्र का कुछ प्रभाव एन्सेल्म के कार्य में देखा जा सकता है। उन्होंने अपने तर्कों में अरस्तू के तर्क के नियमों का उपयोग किया, विशेष रूप से विरोधाभास के सिद्धांत का।

रेशनलिज्म और रियलिज्म

एन्सेल्म को अक्सर एक रेशनलिस्ट (बुद्धिवादी) के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, क्योंकि उन्होंने तर्क के माध्यम से धार्मिक सत्यों को समझने और सिद्ध करने का प्रयास किया। साथ ही, वे एक रियलिस्ट (यथार्थवादी) भी थे, जो मानते थे कि सार्वभौमिक अवधारणाएँ वास्तविक और स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। यह दृष्टिकोण उनके ऑन्टोलॉजिकल तर्क में स्पष्ट रूप से प्रकट होता है।

अपोफैटिक और कैटाफैटिक धर्मशास्त्र

एन्सेल्म ने अपोफैटिक (नकारात्मक) और कैटाफैटिक (सकारात्मक) धर्मशास्त्र के बीच एक संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। अपोफैटिक दृष्टिकोण में, ईश्वर को उसके गुणों के नकारात्मक वर्णन के माध्यम से समझा जाता है (जैसे, ईश्वर क्या नहीं है), जबकि कैटाफैटिक दृष्टिकोण ईश्वर के सकारात्मक गुणों पर केंद्रित होता है।

एन्सेल्म ने दोनों दृष्टिकोणों का उपयोग किया, लेकिन उन्होंने कैटाफैटिक धर्मशास्त्र पर अधिक जोर दिया।

स्कोलास्टिक पद्धति का विकास

एन्सेल्म को अक्सर स्कोलास्टिक पद्धति का अग्रदूत माना जाता है। उन्होंने एक व्यवस्थित और तार्किक तरीके से धार्मिक सिद्धांतों की जांच की, जो बाद में स्कोलास्टिक दर्शन की एक प्रमुख विशेषता बन गई। उनकी पद्धति में तर्क, प्रतितर्क और समाधान का एक संरचित प्रारूप शामिल था, जो बाद के मध्ययुगीन दार्शनिकों द्वारा व्यापक रूप से अपनाया गया।

मठवासी परंपरा का प्रभाव

एन्सेल्म के दर्शन पर उनके मठवासी जीवन का गहरा प्रभाव था। मठवासी परंपरा ने उन्हें गहन चिंतन और आत्म-परीक्षण के लिए समय और स्थान प्रदान किया। इसने उनके दर्शन को एक आध्यात्मिक आयाम दिया, जो उनके तार्किक तर्कों के साथ-साथ चलता है।

बाद के दार्शनिकों पर प्रभाव

एन्सेल्म के विचारों ने बाद के कई दार्शनिकों को प्रभावित किया। उनका ऑन्टोलॉजिकल तर्क विशेष रूप से प्रभावशाली रहा है और इसने रेने देकार्त, बारूच स्पिनोजा, गॉटफ्रीड लाइबनिज़ जैसे दार्शनिकों के कार्य को प्रभावित किया। हालांकि कई दार्शनिकों ने इस तर्क की आलोचना की, फिर भी यह आधुनिक दर्शन में चर्चा का विषय बना हुआ है।

आधुनिक दर्शन में प्रासंगिकता

एन्सेल्म के विचार आज भी प्रासंगिक हैं। उनका ऑन्टोलॉजिकल तर्क धर्म दर्शन में एक महत्वपूर्ण विषय बना हुआ है। उनके तर्क और विश्वास के संश्लेषण के प्रयास ने धर्म और विज्ञान के बीच संवाद को प्रभावित किया है। इसके अलावा, उनकी तार्किक

पद्धति आधुनिक तर्कशास्त्र और विश्लेषणात्मक दर्शन के विकास में योगदान देती है।

संत एन्सेल्म का दर्शन विभिन्न दार्शनिक परंपराओं और विचारों का एक जटिल संश्लेषण था। उन्होंने प्राचीन यूनानी दर्शन, ईसाई धर्मशास्त्र और अपने समय की बौद्धिक प्रवृत्तियों को एक साथ लाकर एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण विकसित किया। उनका कार्य न केवल मध्ययुगीन दर्शन के लिए महत्वपूर्ण था, बल्कि इसने आधुनिक दर्शन के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। एन्सेल्म की विरासत उनके मौलिक विचारों, व्यवस्थित पद्धति और तर्क एवं विश्वास के बीच संतुलन स्थापित करने के प्रयासों में निहित है।

5.3 ऑन्टोलॉजिकल तर्क(सत्तामूलक तर्क)

संत एन्सेल्म का ऑन्टोलॉजिकल तर्क दर्शन के इतिहास में सबसे विवादास्पद और चर्चित तर्कों में से एक है। यह तर्क ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का एक प्रयास है, जो केवल ईश्वर की अवधारणा के विश्लेषण पर आधारित है। एन्सेल्म ने इस तर्क को अपनी पुस्तक "प्रोस्लोजियन" में प्रस्तुत किया, जो 1077-78 ई. में लिखी गई थी।

तर्क का मूल रूप

एन्सेल्म का ऑन्टोलॉजिकल तर्क निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:

1. ईश्वर वह है जिससे बड़ा कुछ भी सोचा नहीं जा सकता।

2. ईश्वर की यह अवधारणा हमारे मन में मौजूद है।

3. यदि ईश्वर केवल हमारे मन में ही मौजूद है और वास्तविकता में नहीं, तो हम एक ऐसी चीज की कल्पना कर सकते हैं जो ईश्वर से बड़ी है - यानी, एक ऐसा ईश्वर जो न केवल मन में बल्कि वास्तविकता में भी मौजूद है।

4. लेकिन ईश्वर वह है जिससे बड़ा कुछ भी सोचा नहीं जा सकता, इसलिए यह असंभव है कि ईश्वर केवल मन में ही मौजूद हो।

5. इसलिए, ईश्वर न केवल मन में बल्कि वास्तविकता में भी मौजूद होना चाहिए।

तर्क का विश्लेषण

एन्सेल्म का तर्क कई महत्वपूर्ण अवधारणाओं पर आधारित है:

1. पूर्णता की अवधारणा: एन्सेल्म ईश्वर को सबसे पूर्ण या महान सत्ता के रूप में परिभाषित करते हैं।

2. अस्तित्व एक पूर्णता है: तर्क मानता है कि वास्तविक अस्तित्व एक पूर्णता है - यानी, वास्तविकता में मौजूद होना केवल मन में मौजूद होने से बेहतर है।

3. अवधारणा और वास्तविकता का संबंध: तर्क यह मानता है कि हमारी अवधारणाओं और वास्तविकता के बीच एक महत्वपूर्ण संबंध है।

तर्क के निहितार्थ

एन्सेल्म का तर्क कई महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न उठाता है:

1. क्या अस्तित्व एक गुण है? यह प्रश्न कांट जैसे बाद के दार्शनिकों द्वारा उठाया गया।

2. क्या हम अवधारणाओं से वास्तविकता के बारे में निष्कर्ष निकाल सकते हैं? यह प्रश्न भाषा और वास्तविकता के संबंध पर बहस को जन्म देता है।

3. ईश्वर की प्रकृति क्या है? तर्क ईश्वर को सबसे महान सोचनीय सत्ता के रूप में परिभाषित करता है, लेकिन इस अवधारणा के निहितार्थ क्या हैं?

5.4 आलोचनाएँ और प्रतिक्रियाएँ

ऑन्टोलॉजिकल तर्क की आलोचना

a) गौनिलो की आलोचना:

एन्सेल्म के समकालीन मठवासी गौनिलो ने तर्क दिया कि इसी तरह के तर्क का उपयोग करके किसी भी "सबसे बड़ी" वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सकता है।

उन्होंने "सबसे पूर्ण द्वीप" का उदाहरण दिया, जिसका अस्तित्व केवल इसलिए नहीं हो जाता क्योंकि हम इसकी कल्पना कर सकते हैं।

b) थॉमस एक्विनास की आलोचना:

एक्विनास ने तर्क दिया कि हम ईश्वर की प्रकृति को पूरी तरह से नहीं समझ सकते, इसलिए हम इस तरह के तर्क का उपयोग नहीं कर सकते।

उन्होंने यह भी कहा कि यह तर्क ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता, बल्कि केवल यह दिखाता है कि ईश्वर की अवधारणा स्वयं में विरोधाभासी नहीं है।

c) इमैनुएल कांट की आलोचना:

कांट ने तर्क दिया कि अस्तित्व एक गुण नहीं है और इसलिए किसी वस्तु की अवधारणा में शामिल नहीं हो सकता।

उन्होंने कहा कि अस्तित्व एक "वास्तविक विधेय" नहीं है, बल्कि केवल एक "तार्किक विधेय" है।

d) बर्ट्रेंड रसेल की आलोचना:

रसेल ने तर्क दिया कि एन्सेल्म का तर्क एक भाषाई भ्रम पर आधारित है।

उन्होंने कहा कि "अस्तित्व" एक विशेषण नहीं है, जिसे किसी वस्तु के विचार में जोड़ा जा सके।

कई दार्शनिकों ने एन्सेल्म के तर्क का बचाव किया या इसे संशोधित किया है:

1. रेने देकार्त: उन्होंने एन्सेल्म के तर्क का एक संशोधित संस्करण प्रस्तुत किया।

2. गॉटफ्रीड लाइबनिज़: उन्होंने तर्क को और विकसित किया, यह दिखाने का प्रयास करते हुए कि ईश्वर का अस्तित्व संभव है।

3. अलविन प्लांटिंगा: 20वीं सदी के दार्शनिक, उन्होंने तर्क का एक आधुनिक संस्करण प्रस्तुत किया, जो मोडल तर्क पर आधारित है।

आधुनिक दर्शन में प्रासंगिकता

एन्सेल्म का ऑन्टोलॉजिकल तर्क आज भी दार्शनिक चर्चा का विषय है:

1. भाषा दर्शन: तर्क भाषा और वास्तविकता के संबंध पर चर्चा को प्रेरित करता है।

2. मेटाफिजिक्स: यह अस्तित्व की प्रकृति और पूर्णता की अवधारणा पर प्रश्न उठाता है।

3. तर्कशास्त्र: तर्क की संरचना और वैधता तार्किक विश्लेषण का विषय है।

4. धर्म दर्शन: यह ईश्वर के अस्तित्व के तार्किक प्रमाणों की संभावना पर बहस को जारी रखता है।

निष्कर्ष

संत एन्सेल्म का ऑन्टोलॉजिकल तर्क दर्शन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर है। यह न केवल ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण के रूप में महत्वपूर्ण है, बल्कि यह तर्क, भाषा, अस्तित्व और ज्ञान की प्रकृति जैसे मौलिक दार्शनिक प्रश्नों को भी उठाता है। हालांकि इसकी व्यापक आलोचना की गई है, फिर भी यह आज भी दार्शनिक चर्चा और विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण विषय बना हुआ है। एन्सेल्म का तर्क दर्शन में तार्किक तर्क की शक्ति और सीमाओं का एक प्रभावशाली उदाहरण प्रस्तुत करता है।

सत्य का सिद्धांत - एन्सेल्म ने सत्य की प्रकृति पर एक महत्वपूर्ण सिद्धांत विकसित किया:

a) सत्य की परिभाषा: उन्होंने सत्य को "वह जो है" के रूप में परिभाषित किया। उनके अनुसार, सत्य वस्तुओं की वास्तविक स्थिति है।

b) सत्य की एकता: एन्सेल्म ने तर्क दिया कि सभी सत्य अंततः एक ही सत्य में समाहित हैं, जो ईश्वर है।

c) सत्य की शाश्वतता: उन्होंने माना कि सत्य शाश्वत है, क्योंकि यह ईश्वर के मन में निहित है।

स्वतंत्र इच्छा का सिद्धांत

एन्सेल्म ने मानव स्वतंत्र इच्छा पर एक महत्वपूर्ण सिद्धांत विकसित किया:

a) स्वतंत्र इच्छा की परिभाषा: उन्होंने स्वतंत्र इच्छा को "सही के लिए इच्छा की क्षमता" के रूप में परिभाषित किया।

b) स्वतंत्र इच्छा और पाप: एन्सेल्म ने तर्क दिया कि पाप स्वतंत्र इच्छा का दुरुपयोग है, न कि इसका अनिवार्य परिणाम।

c) स्वतंत्र इच्छा और ईश्वरीय कृपा: उन्होंने प्रयास किया दिखाने का कि मानव स्वतंत्र इच्छा ईश्वरीय कृपा के साथ असंगत नहीं है।

प्रायश्चित का सिद्धांत

एन्सेल्म ने ईसा मसीह के प्रायश्चित पर एक महत्वपूर्ण सिद्धांत विकसित किया, जिसे "संतुष्टि का सिद्धांत" कहा जाता है:

a) पाप की गंभीरता: उन्होंने तर्क दिया कि पाप अनंत रूप से गंभीर है क्योंकि यह अनंत ईश्वर के विरुद्ध है।

b) मानव असमर्थता: एन्सेल्म ने माना कि मनुष्य अपने पाप के लिए पर्याप्त क्षतिपूर्ति करने में असमर्थ है।

c) ईसा मसीह की भूमिका: उन्होंने तर्क दिया कि केवल ईश्वर-मनुष्य ईसा मसीह ही पाप के लिए पर्याप्त क्षतिपूर्ति कर सकते थे।

विश्वास और तर्क का संबंध

एन्सेल्म ने विश्वास और तर्क के बीच संबंध पर महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए:

a) "विश्वास की खोज में समझ": यह एन्सेल्म का प्रसिद्ध सिद्धांत था। उन्होंने माना कि विश्वास तर्क से पहले आता है, लेकिन तर्क विश्वास को समझने और मजबूत करने में मदद करता है।

b) तर्क की सीमाएं: एन्सेल्म ने स्वीकार किया कि कुछ धार्मिक सत्य तर्क से परे हैं, लेकिन उन्होंने इन सत्यों की तार्किक व्याख्या करने का प्रयास किया।

c) तर्क का महत्व: उन्होंने जोर दिया कि तर्क धार्मिक विश्वास को समझने और उसका बचाव करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

भाषा और अर्थ का सिद्धांत

एन्सेल्म ने भाषा और अर्थ पर कुछ महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए:

a) शब्दों के प्रकार: उन्होंने शब्दों को विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया, जैसे सार्वभौमिक और विशिष्ट।

b) अर्थ की प्रकृति: एन्सेल्म ने माना कि शब्दों का अर्थ उनके संदर्भ पर निर्भर करता है।

c) ईश्वरीय भाषा: उन्होंने ईश्वर की भाषा और मानव भाषा के बीच अंतर पर विचार किया।

निष्कर्ष

संत एन्सेल्म के दार्शनिक योगदान व्यापक और गहन थे। उन्होंने न केवल ईश्वर के अस्तित्व पर चर्चा की, बल्कि ईश्वर के गुणों, सत्य की प्रकृति, मानव स्वतंत्र इच्छा,

प्रायश्चित के सिद्धांत, विश्वास और तर्क के संबंध, भाषा और अर्थ की प्रकृति, तथा तर्कशास्त्र के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनके विचारों ने न केवल मध्ययुगीन दर्शन को आकार दिया, बल्कि आधुनिक दर्शन पर भी गहरा प्रभाव डाला। एन्सेल्म की विरासत उनके मौलिक विचारों, व्यवस्थित पद्धति और धर्म तथा दर्शन के बीच संतुलन स्थापित करने के प्रयासों में निहित है।

5.5 सारांश

संत एन्सेल्म का दर्शन व्यापक आलोचना का विषय रहा है, विशेष रूप से उनका ऑन्टोलॉजिकल तर्क। हालांकि, इन आलोचनाओं के बावजूद, एन्सेल्म के विचारों ने दर्शन, धर्मशास्त्र और तर्कशास्त्र पर गहरा और स्थायी प्रभाव डाला है। उनका कार्य न केवल मध्ययुगीन दर्शन के लिए महत्वपूर्ण था, बल्कि आधुनिक दर्शन और धर्म दर्शन में भी प्रासंगिक बना हुआ है। एन्सेल्म की विरासत उनके मौलिक विचारों, व्यवस्थित पद्धति और विश्वास एवं तर्क के बीच संतुलन स्थापित करने के प्रयासों में निहित है। आज भी, उनके विचार दार्शनिक बहस और चिंतन को प्रेरित करते हैं, जो उन्हें दर्शन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली व्यक्तित्व बनाता है।

5.6 बोध प्रश्न

1. ऑन्टोलॉजिकल तर्क(सत्तामूलक तर्क) से आप क्या समझते हैं?

2.ऑन्टोलॉजिकल तर्क(सत्तामूलक तर्क) की विभिन्न विचारकों द्वारा की गई समीक्षा का वर्णन कीजिए ।

3.संत एन्सेल्म के विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।

5.7 उपयोगी पुस्तकें

1.पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।

2.पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4.पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

इकाई 6

संत थॉमस एक्विनास का दर्शन

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 एक्विनास के दर्शन का ऐतिहासिक संदर्भ

6.3 ईश्वर का अस्तित्व और प्रकृति

6.4 सृष्टिमीमांसा

6.5 आत्मा की अवधारणा

6.6 एक्विनास के दर्शन की आलोचनाएं और प्रतिउत्तर

6.7 सारांश

6.8 बोध- प्रश्न

6.9 उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हम संत थॉमस एक्विनास के ईश्वरमीमांसा, एक्विनास ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये जो युक्तियाँ दी हैं, उनकी सृष्टिमीमांसा,आत्मा की अवधारणा,ज्ञान का सिद्धांत,नैतिकता और मुक्त इच्छा पर उनके विचारों इत्यादि का अध्ययन किया जाएगा।

6.1 प्रस्तावना

संत थॉमस एक्विनास (1225-1274) मध्ययुगीन युरोप के सबसे प्रभावशाली दार्शनिकों और धर्मशास्त्रियों में से एक थे। वे रोमन कैथोलिक चर्च के एक प्रमुख शिक्षक और इतालवी डोमिनिकन क्रम के एक सदस्य थे। एक्विनास का जन्म इटली के एक कुलीन परिवार में हुआ था, और उन्होंने अपना जीवन ईसाई धर्म और दर्शन के अध्ययन और शिक्षण में समर्पित किया। एक्विनास ने अपने जीवनकाल में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की, जिनमें सबसे प्रसिद्ध "सुम्मा थियोलॉजिका" है। यह विशाल कृति ईसाई धर्म के सिद्धांतों का एक व्यापक संकलन है, जो तर्क और दर्शन का उपयोग करके ईश्वर के अस्तित्व, मानव प्रकृति, और नैतिकता जैसे विषयों की व्याख्या करती है।

6.2 एक्विनास के दर्शन का ऐतिहासिक संदर्भ

13वीं शताब्दी का युरोप बौद्धिक उथल-पुथल का समय था। इस काल में, अरस्तू के कार्यों का पुनः आविष्कार हुआ, जो कि यूनानी दार्शनिक परंपरा का एक महत्वपूर्ण

हिस्सा थे। इन ग्रंथों ने यूरोपीय विचारकों को गहराई से प्रभावित किया, लेकिन साथ ही एक चुनौती भी पेश की: कैसे अरस्तू के विचारों को ईसाई धर्म के साथ सामंजस्य बिठाया जाए?

एक्विनास ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अरस्तू के दर्शन को ईसाई धर्म के साथ समन्वित करने का प्रयास किया। उन्होंने तर्क किया कि विश्वास और कारण एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक ही सत्य की ओर ले जाते हैं। यह दृष्टिकोण उनके दर्शन का एक केंद्रीय तत्व बन गया।

एक्विनास के दर्शन के मुख्य प्रभाव

एक्विनास के दर्शन पर कई स्रोतों का प्रभाव पड़ा:

1. अरस्तू: एक्विनास ने अरस्तू के कई विचारों को अपनाया, जैसे कि तर्क का महत्व, प्रकृति का वैज्ञानिक अध्ययन, और नैतिकता का सद्गुण-आधारित दृष्टिकोण।

2. सेंट ऑगस्टीन: एक्विनास ने ऑगस्टीन के कई धार्मिक विचारों को भी शामिल किया, विशेष रूप से ईश्वर की प्रकृति और मानव आत्मा के बारे में।

3. यहूदी और इस्लामी दार्शनिक: मैमोनिडीस और अवेरोस जैसे विचारकों ने भी एक्विनास के काम को प्रभावित किया, विशेष रूप से उनके धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या के संबंध में।

एक्विनास के दर्शन का महत्व

एक्विनास का दर्शन न केवल उनके समय में महत्वपूर्ण था, बल्कि आज भी प्रासंगिक है। उनके विचारों ने रोमन कैथोलिक चर्च के आधिकारिक दर्शन को आकार दिया और पश्चिमी दर्शन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनका काम धर्म और विज्ञान, विश्वास और कारण के बीच संबंधों पर चल रही बहस में अभी भी महत्वपूर्ण है। इस परिचय खंड में, हमने संत थॉमस एक्विनास के जीवन और काल का एक संक्षिप्त अवलोकन प्राप्त किया है। अगले खंड में, हम उनके दार्शनिक विचारों के मुख्य सिद्धांतों की गहराई से जांच करेंगे।

6.3 ईश्वर का अस्तित्व और प्रकृति

एक्विनास ने तर्क दिया कि ईश्वर शुद्ध अस्तित्व है, वे पूर्ण रूप से सरल, अपरिवर्तनीय, और अनंत हैं।

ईश्वरमीमांसा

एक्विनास के अनुसार ईश्वर आस्था का विषय है। उल्लेखनीय है कि कुछ दार्शनिकों ने आस्था और तर्कबुद्धि के बीच में एक ऐसी अलंघ्य खाई बना दिया जिसके परिणामस्वरूप दोनों को परस्पर विरोधी माना जाने लगा। किन्तु एक्विनास ने दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। ईश्वर भले ही आस्था का विषय हो, तथापि उसे तार्किक युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। जो श्रद्धेय वस्तुएँ अथवा तत्त्व तर्कबुद्धि से परे हैं, उनका निषेध नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, आस्था और तर्कबुद्धि के क्षेत्र भले ही अलग-अलग हों, तथापि उन्हें एक दूसरे का विरोधी नहीं कहा जा सकता है। ईश्वर भले ही आस्था का विषय हो फिर भी उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये तार्किक युक्तियाँ दी जा सकती हैं। एक्विनास ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये पाँच युक्तियाँ दी हैं, जो अधोलिखित है -

(1) गति के आदि प्रवर्तक के रूप में ईश्वर की सिद्धि (Argument from unmoved mover) - यह युक्ति सर्वप्रथम अरस्तू के दर्शन में मिलती है। उसने ईश्वर को जगत् में व्याप्त समस्त गति का आदि प्रवर्तक माना है। ईश्वर समस्त गति का आदि प्रवर्तक होते हुये भी स्वयं अचालित या अगतिशील है। शास्त्रीय युग में इस युक्ति का प्रयोग एक्विनास ने किया। एक्विनास के अनुसार यदि समस्त गति का. प्रवर्तक एक आदि चालक न हो, तो सृष्टि की गति की व्याख्या में अनवस्था दोष (Fallacy of Infinite Regress) से नहीं बचा जा सकता है। एक्विनास के अनुसार सभी वस्तुओं एवं क्रिया का सूत्रधार एक ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो स्वयं अगतिशील हो। यदि उसे भी गतिशील माना जाय तो इस क्रम का

कोई अंत नहीं हो सकता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि समस्त गति का आदि प्रवर्तक ईश्वर है जो स्वयं अचालित (अगतिशील) है। अरस्तू एवं एन्सेल्म के ईश्वर सम्बन्धी तों में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(2) निमित्त कारण मूलक पुक्ति (The Argument from efficient Cause) यह युक्ति एक प्रथम कारण की मान्यता पर आधारित है। प्रत्येक वस्तु अपनी उत्पत्ति के लिये अन्य वस्तुओं पर आश्रित होती है। यदि एक वस्तु का कारण दूसरी वस्तु को और दूसरी वस्तु का कारण तीसरी वस्तु को माना जाय, तो इस क्रम का कोई अंत नहीं हो सकता है। अतः सब वस्तुओं का कारण एक ऐसा तत्त्व होना चाहिए जिसका कारण कोई अन्य तत्त्व न हो, अर्थात् जो स्वयं-भू (Self Caused) हो। सभी वस्तुओं का आदि कारण ईश्वर ही हो सकता है। कारणता मूलक तर्क को सृष्टि मूलक तर्क का प्रतिरूप माना जा सकता है। यह तर्क इस मान्यतापर आधारित है कि कार्य कारण की श्रृंखला अनिश्चित होते हुये भी अनन्त नहीं हो सकती है, अन्यया अनवस्था दोष से नहीं बचा जा सकता है। एक्विनास के पूर्व अरब के महान दार्शनिक अत्त फराबी ने भी इस युक्ति का प्रतिपादन किया था। एक्विनास की पहली और दूसरी ये दोनों युक्तियाँ एक प्रकार से कारण-कार्य सम्बन्धों पर आधारित हैं। आधुनिक दार्शनिको ने इन युक्तियों को सृष्टि वैज्ञानिक तर्क कहा है।

(3) आकस्मिकता मूलक युक्ति (Argument from contingency)- जगत् की कुछ वस्तुयें उद्भव, विकास और हास से युक्त हैं। उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से सिद्ध होता है कि वे अनिवार्य एवं शाश्वत नहीं हैं, बल्कि आपातिक अथवा आकस्मिक हैं। इन आपातिक वस्तुओं की उत्पत्ति का आधार कोई अनिवार्य सत्ता होनी चाहिए। यह अनिवार्य सत्ता ईश्वर ही होना चाहिए जो समस्त आपातिक वस्तुओं का अनिवार्य आधार है। प्रश्न उठताहै कि आपातिक वस्तुओं की उत्पत्ति कहाँ से हुयी? इनका मूल आधार स्वयं आकस्मिक या आपातिक वस्तु नहीं हो सकता है। गति मूलक तर्क के समान इस तर्क में भी आकस्मिकता की अनन्त श्रृंखला निहित है। अनवस्या दोष से बचने के लिये एक अनिवार्य तत्त्व की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। आकस्मिक और अनित्य विश्व की तर्कसंगत व्याख्या करने के

लिये एक अनिवार्य और नित्य ईश्वर में विश्वास करना तर्कसंगत है। एक्विनास के इस तर्क का समर्थन आगे चलकर लाइबनित्ज और केयर्ड आदि दार्शनिकों ने भी किया।'

(4) पूर्णता के तारतम्य (अवस्था-भेद) पर आधारित युक्ति (The Argument from the Degrees of Perfection) - संसार की विभिन्न वस्तुओं और व्यक्तियों में सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति का एक तारम्य (मात्रा भेद) पाया जाता है। कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक सद्‌गुणी हैं। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति और वस्तुयें अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं की तुलना में अधिक सुन्दर, अधिक शुभ इत्यादि हैं। कुछ व्यक्ति और उनके कर्म अन्य व्यक्तियों और उनके कर्मों की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण, अधिक उचित और अधिक कल्याणकारी होते हैं। इससे स्पष्ट है कि गुणों के इस क्रमिक विकास में अवस्था-भेद है। उसमें कम पूर्णता से अधिक पूर्णता की ओर एक क्रमिक विकास पाया जाता है। इससे सिद्‌ध होता है कि पूर्णता के इस क्रम में एक ऐसी सर्वोद्‌य सत्ता है जो पूर्ण है। उसमें सभी सद्‌गुण (सत्यं, शिवम्‌ एवं सुन्दरं) अपने पूर्ण परिमाण में स्थित हैं। यह पूर्ण तत्त्व ही ईश्वर है।

(5) प्रयोजनमूलक युक्ति (Teleological Argument) - एक्विनास के अनुसार सृष्टि की समस्त वस्तुएं सप्रयोजन हैं। सजीव प्राणियों के साथ-साथ निर्जीव वस्तुयें भी अपने-अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिये क्रियाशील एवं प्रयत्नशील हैं। मनुष्य जैसे सजीव प्राणी भले ही बुद्‌धिमान हों किन्तु अनेक अविवेकशील प्राणी और निर्जीव वस्तुएं बौद्‌धिक चिंतन से रहित हैं। जो विवेकशून्य हैं उन्हें अपने प्रयोजन का बोध नहीं हो सकता है। विवेकशून्य वस्तुएं स्वतः किसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिये प्रेरित नहीं हो सकती हैं। उनका प्रयोजन केवल आकस्मिक नहीं हो सकता है। उनके उद्‌देश्यों और क्रियाओं का संचालक एक विवेकपूर्ण सत्ताअवश्य होनी चाहिए। यह तत्त्व ईश्वर ही हो सकता है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में इस युक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो और अरस्तू से लेकर आगस्टाइन और एक्विनास के बाद आने वाले अधिकांश दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में प्रयोजनमूलक युक्ति का समर्थन किया है।

6.4 सृष्टिमीमांसा

आगस्टाइन, एरिजेना और एन्सेल्म ने प्लेटो की सामान्य विषयक अवधारणा के आधार पर सामान्यों की सत्ता को वास्तविक माना था। एक्विनास ने प्लेटो के सामान्य विषयक सिद्धान्त का निराकरण करके अरस्तू के सामान्य विषयक सिद्धान्त का समर्थन किया है। अरस्तू के समानवह सामान्यों को विशेषों में व्याप्त मानता है। ईश्वर के नित्य प्रत्यय जड़ जगत् और जीव इन दो रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। ईश्वर सामान्यों के माध्यम से जगत् और जीवात्माओं में व्याप्त होता है। प्रत्येक वस्तु सामान्यों से विशिष्ट होकर ही अस्तित्वं ग्रहण करती है। अरस्तू से प्रभावित एक्विनास का सामान्य विषयक सिद्धान्त सामान्य से विशिष्ट व्यक्तिवाद है। वह अरस्तू के सामान्य सिद्धान्त का ईसाई धर्म के साथ समन्वय करने का प्रयास करता है। वह विशेषों से पृथक् रूप में सामान्यों के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करता है। प्रत्येक विशेष सामान्य से युक्त है। सृष्टि की सभी जड़ और चेतन वस्तुओं की उत्पत्ति सामान्यों से होती है। सामान्यों का सम्बन्ध नित्य प्रत्ययों के साथ-साथ अनित्य वस्तुओं से भी है। किन्तु सामान्यों का आधार नित्य ईश्वर है।

6.5 आत्मा की अवधारणा

एक्विनास का आत्मा सम्बन्धी सिद्धांत भी ईसाई धर्म और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित आत्मा की अवधारणा से प्रभावित है। ईश्वरीय सृष्टि के अन्तर्गत तीन तत्त्व आते हैं-

(1) प्रकृति- इसकी रचना जड़ द्रव्य से हुई है।

(2) जीवात्माएँ

(3) देवदूत (Angels)

इनमें से देवदूत अशरीरी और दैवी हैं। उनमें लेशमात्र भी जड़ता नहीं पायी जाती है। जीवात्मायें शरीर से युक्त होती हैं। आत्मा शरीर का प्रेरक तत्त्व है। आत्मा के तीन भाग हैं- (1) गतिशील अथवा क्रियाशील भाग। इसका सम्वन्ध संकल्प से है। (2) संवेदनशील और (3) बौद्धिक भाग। मनुष्य की आत्मा में बुद्धि और संकल्प दोनों

तत्व विद्यमान हैं। किन्तु पशुओं और पक्षियों में ये लक्षण नहीं पाये जाते हैं। मनुष्य का बौद्धिक तत्त्व अतिजैविक है जो शरीर से स्वतन्त्र होता है। अतः शरीर का बौद्धिक तत्व शरीर के अभाव में भी बना रहता है। इसके विपरीत पशुओं की आत्माएँ मरणशील हैं। केवल मनुष्यों की आत्मा ही अमर है। एक्विनास अनेकात्मवादी हैं। वे अनेक आत्माओं की सत्ता को मानते हैं। एक व्यक्ति की आत्मा दूसरे व्यक्तियों की आत्मा से भिन्न होती है। यदि एक व्यक्ति की आसा अन्य व्यक्तियों की आत्माओं से भिन्न न हो तो मनुष्य को उसके विवेकपूर्ण और नैतिक कर्मो के लिये श्रेय नहीं दिया जा सकता है। बिना अनेक आत्माओं की सत्ता को माने हुये नैतिक जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती है। अतः एक्विनास के अनुसार ईश्वर के द्वारा प्रत्येक मनुष्य की आत्मा का सृजन अलग-अलग होता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रण्ड रसेल ने एक्विनास के इस मत की कटु आलोचना की है। रसेल के अनुसार यह सिद्धान्त पार्मिक आस्था के साथ अन्याय करता है। यदि किसी व्यक्ति का जन्म विवाहित दम्पत्ति से न हो तो ऐसी परिस्थिति में ईश्वर को व्यभिचार के लिये दोषी माना जायेगा क्योंकि ईश्वर ने उसके (नवजात शिशु) लिये एक आला का सृजन किया है। इसके अतिरिक्त इसे स्वीकार कर लेने पर ईसाई धर्म में मान्य मूल पाप की अवधारणा का भी खण्डन हो जाता है। प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति के लिये भिन्न-भिन्न आत्माओं की सृष्टि की है तो आदम के द्वारा किया गया मूल पाप प्रत्येक मनुष्य के शरीर में कैसे प्रवेश कर जाता है? इसके साथ-साथ इस मान्यता से मनुष्य के संकल्प की स्वतन्त्रता का भी निषेध हो जाता है। यदि मूल पाप को जीवात्मा के स्वभाव में निहित मान लिया जाय तो संकल्प की स्वतन्त्रता कैसे सुरक्षित हो सकती है? यदि संकल्प स्वातन्त्र्य संभव न हो तो किसी व्यक्ति को उसके पाप के लिये नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी कैसे कहा जा सकता है? इन प्रश्नों का कोई तार्किक और संतोषजनक समाधान धामस एक्विनास के दर्शन में नहीं मिलता है।'

अरस्तू से प्रभावित एक्विनास ने आत्मा की अमरता का समर्थन किया है। उसके अनुसार शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का बौद्धिक अंश सक्रिय रहता है।

आत्मा के बौद्धिक अंश का कभी नाश नहीं होता है। एक्विनास की यह मान्यता अरस्तू के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त का ही एक परिवर्तित रूप है। अरस्तू आत्मा के सक्रिय (बौद्धिक) पक्ष को दैवी स्फुल्लिंग (Divine Spark) कहता है। यह दैवी स्फुल्लिंग नष्ट नहीं होता। एक्विनास के अनुसार भीआत्मा का बौद्धिक अंश उसके संकल्प की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः संकल्प शक्ति का नियमन बुद्धि के द्वारा निर्धारित शुभत्व (निःश्रेयस) से होता है।

ज्ञान का सिद्धांत

एक्विनास का ज्ञान का सिद्धांत अरस्तू के विचारों पर आधारित है। उन्होंने माना कि सभी ज्ञान इंद्रियों से शुरू होता है। हमारा मन वस्तुओं के बारे में जानकारी प्राप्त करता है और फिर उनके सार को समझता है। उन्होंने दो प्रकार के ज्ञान की पहचान की: a) प्राकृतिक ज्ञान: यह वह ज्ञान है जो हम अपनी बुद्धि और अनुभव से प्राप्त करते हैं। b) दैवीय ज्ञान: यह वह ज्ञान है जो ईश्वर द्वारा प्रकट किया जाता है और विश्वास पर आधारित है। एक्विनास ने तर्क दिया कि ये दोनों प्रकार के ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं और विरोधी नहीं हैं।

मानव प्रकृति

एक्विनास ने मनुष्य को शरीर और आत्मा के संयोजन के रूप में देखा। उन्होंने माना कि आत्मा शरीर का रूप है, जो इसे जीवन और चेतना प्रदान करती है।

उन्होंने तर्क दिया कि मनुष्यों में तीन प्रकार की आत्माएं हैं: a) वनस्पति आत्मा: यह पोषण और वृद्धि के लिए जिम्मेदार है। b) पशु आत्मा: यह संवेदना और गति के लिए जिम्मेदार है। c) तर्कसंगत आत्मा: यह सोचने और तर्क करने की क्षमता प्रदान करती है। एक्विनास ने माना कि मनुष्य की तर्कसंगत आत्मा अमर है और मृत्यु के बाद भी जीवित रहती है।

नैतिकता और मुक्त इच्छा

एक्विनास की नैतिकता का सिद्धांत सद्गुण पर आधारित है। उन्होंने चार कार्डिनल सद्गुणों (विवेक, न्याय, साहस, और संयम) और तीन धार्मिक सद्गुणों (विश्वास, आशा, और दया) की पहचान की। उन्होंने तर्क दिया कि नैतिक व्यवहार का उद्देश्य मानव प्रकृति की पूर्णता और ईश्वर के साथ एकता प्राप्त करना है। उन्होंने माना कि मनुष्यों के पास मुक्त इच्छा है, लेकिन यह ईश्वर के ज्ञान और इच्छा के अधीन है। एक्विनास ने प्राकृतिक कानून के सिद्धांत को भी विकसित किया, जिसके अनुसार कुछ नैतिक नियम सार्वभौमिक और तर्कसंगत हैं।

राजनीतिक दर्शन

एक्विनास ने एक राजनीतिक दर्शन विकसित किया जो अरस्तू के विचारों पर आधारित था। उन्होंने तर्क दिया कि सरकार का उद्देश्य सामान्य भलाई को बढ़ावा देना है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के शासन की पहचान की और तर्क दिया कि राजतंत्र सबसे अच्छा रूप है, लेकिन केवल तभी जब राजा न्यायपूर्ण और सद्गुणी हो। एक्विनास ने यह भी तर्क दिया कि नागरिकों का अधिकार है कि वे अन्यायपूर्ण शासकों का विरोध करें, लेकिन केवल अंतिम उपाय के रूप में।

धर्म और विज्ञान का संबंध

एक्विनास ने धर्म और विज्ञान के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने तर्क दिया कि दोनों एक ही सत्य की ओर ले जाते हैं और इसलिए वे एक दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते। उन्होंने माना कि कुछ सत्य केवल विश्वास द्वारा जाने जा सकते हैं, जबकि अन्य तर्क द्वारा जाने जा सकते हैं। उन्होंने तर्क दिया कि जहां तर्क पहुंच नहीं सकता, वहां विश्वास मार्गदर्शन करता है। इस खंड में हमने एक्विनास के दर्शन के मुख्य सिद्धांतों का अवलोकन किया है। अगले खंड में, हम इन सिद्धांतों के कुछ विशिष्ट अनुप्रयोगों और उदाहरणों पर ध्यान केंद्रित करेंगे।

6.6 एक्विनास के दर्शन की आलोचनाएं और प्रति उत्तर-

1. ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण की आलोचना

आलोचना: कई दार्शनिकों ने एक्विनास के ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणों की आलोचना की है। उदाहरण के लिए, इमैनुएल कांट ने तर्क दिया कि हम अनुभव से परे चीजों के बारे में कुछ भी नहीं जान सकते। संभावित प्रतिउत्तर: एक्विनास के समर्थक तर्क दे सकते हैं कि उनके प्रमाण अनुभव पर आधारित हैं और तर्कसंगत निष्कर्ष निकालते हैं। वे यह भी कह सकते हैं कि ये प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को पूरी तरह से सिद्ध नहीं करते, बल्कि उसके अस्तित्व की संभावना को तर्कसंगत रूप से स्थापित करते हैं।

2. प्राकृतिक कानून सिद्धांत की आलोचना

आलोचना: कुछ आलोचक तर्क देते हैं कि प्राकृतिक कानून का विचार बहुत सरल है और विभिन्न संस्कृतियों और समाजों में नैतिक मूल्यों की विविधता को नजरअंदाज करता है। संभावित प्रतिउत्तर: एक्विनास के अनुयायी कह सकते हैं कि प्राकृतिक कानून के मूल सिद्धांत सार्वभौमिक हैं, जबकि उनके विशिष्ट अनुप्रयोग संस्कृति और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न हो सकते हैं। वे यह भी तर्क दे सकते हैं कि नैतिक मूल्यों में कुछ मूलभूत समानताएं हैं जो सभी संस्कृतियों में पाई जाती हैं।

3. विश्वास और कारण के संबंध की आलोचना

आलोचना: कुछ लोग तर्क देते हैं कि विश्वास और कारण को एक साथ रखना असंगत है, क्योंकि वे दो अलग-अलग और असंगत तरीके हैं जिनसे हम दुनिया को समझते हैं। संभावित प्रतिउत्तर: एक्विनास के समर्थक तर्क दे सकते हैं कि विश्वास और कारण एक ही सत्य के दो अलग-अलग पहलू हैं। वे यह भी कह सकते हैं कि कुछ सत्य ऐसे हैं जो तर्क से परे हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वे तर्क के विरोधी हैं।

4. मानव प्रकृति के सिद्धांत की आलोचना

आलोचना: आधुनिक विज्ञान ने मानव मस्तिष्क और व्यवहार की जटिलता को प्रकट किया है, जो एक्विनास के तीन-आत्मा मॉडल से कहीं अधिक जटिल है। संभावित

प्रतिउत्तर: एक्विनास के अनुयायी तर्क दे सकते हैं कि उनका मॉडल एक सरलीकृत व्याख्या है जो अभी भी मानव प्रकृति के मूल पहलुओं को समझने में उपयोगी है। वे यह भी कह सकते हैं कि इस मॉडल को आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के साथ अपडेट और संशोधित किया जा सकता है।

5. मुक्त इच्छा और ईश्वरीय ज्ञान के विरोधाभास की आलोचना

आलोचना: कई दार्शनिकों ने तर्क दिया है कि मुक्त इच्छा और ईश्वर का सर्वज्ञान एक साथ मौजूद नहीं हो सकते। यदि ईश्वर पहले से ही जानता है कि हम क्या करेंगे, तो हम वास्तव में स्वतंत्र कैसे हो सकते हैं? संभावित प्रतिउत्तर: एक्विनास के समर्थक तर्क दे सकते हैं कि ईश्वर का ज्ञान हमारे निर्णयों को प्रभावित नहीं करता, बल्कि केवल उन्हें जानता है। वे यह भी कह सकते हैं कि ईश्वर समय से परे है और इसलिए हमारे निर्णयों को एक अलग परिप्रेक्ष्य से देखता है।

6. सद्गुण नैतिकता की आलोचना

आलोचना: कुछ आलोचक तर्क देते हैं कि सद्गुण नैतिकता नैतिक निर्णय लेने के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन प्रदान नहीं करती, खासकर जब विभिन्न सद्गुण आपस में टकराते हैं। संभावित प्रतिउत्तर: एक्विनास के अनुयायी कह सकते हैं कि सद्गुण नैतिकता का उद्देश्य कठोर नियम प्रदान करना नहीं है, बल्कि व्यक्ति के चरित्र को विकसित करना है। वे यह भी तर्क दे सकते हैं कि विवेक का सद्गुण हमें यह निर्धारित करने में मदद करता है कि किसी विशेष स्थिति में कौन सा सद्गुण सबसे उपयुक्त है।

7. राजनीतिक दर्शन की आलोचना

आलोचना: एक्विनास का राजतंत्र का समर्थन आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों के विपरीत प्रतीत होता है। संभावित प्रतिउत्तर: एक्विनास के समर्थक तर्क दे सकते हैं कि उनका मुख्य बिंदु यह था कि शासन का उद्देश्य सामान्य भलाई होना चाहिए, न कि किसी

विशेष शासन प्रणाली का समर्थन करना। वे यह भी कह सकते हैं कि एक्विनास के सिद्धांतों को आधुनिक लोकतांत्रिक संदर्भ में अनुकूलित किया जा सकता है।

8. आत्मा की अमरता की आलोचना

आलोचना: आधुनिक भौतिकवादी दृष्टिकोण आत्मा की अमरता के विचार को अस्वीकार करता है, यह तर्क देते हुए कि चेतना मस्तिष्क की गतिविधि का परिणाम है। संभावित प्रतिउत्तर: एक्विनास के अनुयायी तर्क दे सकते हैं कि आत्मा एक अमूर्त अवधारणा है जिसे भौतिक रूप से मापा नहीं जा सकता। वे यह भी कह सकते हैं कि चेतना की प्रकृति अभी भी एक रहस्य है जिसे विज्ञान पूरी तरह से समझा नहीं है। इस खंड में हमने एक्विनास के दर्शन की कुछ प्रमुख आलोचनाओं और उनके संभावित प्रतिउत्तरों पर चर्चा की। यह दिखाता है कि एक्विनास के विचार आज भी बहस और चर्चा का विषय हैं। एक्विनास के दर्शन का आधुनिक प्रभाव

1. धार्मिक दर्शन में प्रभाव

एक्विनास का दर्शन आज भी रोमन कैथोलिक चर्च के आधिकारिक दर्शन का आधार है। पोप लियो XIII ने 1879 में एक्विनास के दर्शन को चर्च के आधिकारिक दर्शन के रूप में स्थापित किया, और यह स्थिति आज भी बनी हुई है। उदाहरण: कैथोलिक शिक्षा संस्थानों में, एक्विनास के विचारों का अध्ययन अभी भी दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र के पाठ्यक्रमों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

2. नव-थॉमिज्म

20वीं सदी में, एक्विनास के विचारों का पुनरुत्थान हुआ, जिसे "नव-थॉमिज्म" के नाम से जाना जाता है। यह आंदोलन एक्विनास के विचारों को आधुनिक दर्शन और विज्ञान के साथ संवाद में लाने का प्रयास करता है। उदाहरण: जैक मारिटेन और एटियन गिल्सन जैसे दार्शनिकों ने एक्विनास के विचारों को आधुनिक समस्याओं पर लागू किया, जैसे कि मानवाधिकार और लोकतंत्र।

3. नैतिक दर्शन में प्रभाव

एक्विनास की सद्गुण नैतिकता और प्राकृतिक कानून की अवधारणाएं आधुनिक नैतिक दर्शन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं

6.7 सारांश

एक्विनास का दर्शन, हालांकि मध्ययुगीन काल में विकसित हुआ था, आज भी विभिन्न क्षेत्रों में प्रासंगिक और प्रभावशाली है। उनके विचार धार्मिक और दार्शनिक चिंतन को प्रभावित करना जारी रखते हैं, और उन्हें आधुनिक समस्याओं और चुनौतियों पर लागू किया जा रहा है। एक्विनास का दर्शन विश्वास और कारण, नैतिकता और विज्ञान, व्यक्तिगत नैतिकता और सामाजिक न्याय के बीच संतुलन बनाने का प्रयास करता है, जो आज के जटिल और बहुआयामी दुनिया में विशेष रूप से प्रासंगिक है। एक्विनास की यह क्षमता कि वे जटिल दार्शनिक विचारों को व्यवस्थित और तर्कसंगत तरीके से प्रस्तुत कर सकते थे, उन्हें एक महान दार्शनिक और शिक्षक के रूप में स्थापित करती है।

6.8 बोध- प्रश्न

1.संत थॉमस एक्विनास के ईश्वर विषयक मत की समीक्षा कीजिए।

2. संत थॉमस एक्विनास के आत्मा की अवधारणा की समीक्षा कीजिए।

6.9 उपयोगी पुस्तकें

1.पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।

2.पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4.पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

----------0000----------

इकाई -7

संत आगस्टाइन का दर्शन

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 संत आगस्टाइन के प्रमुख दार्शनिक विचार

7.3 ईश्वर की अवधारणा

7.4 आत्मा और शरीर का द्वैतवाद

7.5 जगत् का स्वरूप

7.6 समय का सिद्धांत

7.7 अशुभ का सिद्धांत

7.8 पूर्व-निर्धारण का सिद्धांत

7.9 संत आगस्टाइन के दर्शन की समीक्षा

7.10 सारांश

7.11 बोध- प्रश्न

7.12 उपयोगी पुस्तकें

---------0000---------

7.0 उद्देश्य

जीवन के अर्थ, नैतिकता, ज्ञान की प्रकृति, और मानव अस्तित्व के उद्देश्य जैसे प्रश्न आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने आगस्टाइन के समय में थे। आगस्टाइन के विचार इन प्रश्नों पर चिंतन करने और उनके संभावित उत्तर खोजने में हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं। आगस्टाइन ने कई मौलिक दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया, जैसे ईश्वर की अवधारणा,आत्मा की अवधारणा,जगत् का स्वरूप, समय की प्रकृति, अशुभ की समस्या, और ज्ञान का स्रोत। उनके आत्म-चिंतन संबंधी विचारों, धार्मिक चिंतन ,दार्शनिक चिंतन का अध्ययन इन जटिल विषयों पर गहरी समझ विकसित करने में मदद कर सकता है।

7.1 प्रस्तावना

संत आगस्टाइन (354-430 ईसवी) प्रारंभिक ईसाई धर्म के सबसे प्रभावशाली दार्शनिकों और धर्मशास्त्रियों में से एक थे। वे पश्चिमी ईसाई धर्म के प्रमुख संतों में से एक माने जाते हैं और उन्हें "पश्चिमी ईसाई धर्म के पिता" के रूप में भी जाना जाता है। आगस्टाइन के विचारों ने न केवल ईसाई धर्म को बल्कि पश्चिमी दर्शन को भी गहराई से प्रभावित किया है।आगस्टाइन का जन्म 13 नवंबर 354 ई. को उत्तरी अफ्रीका के रोमन प्रांत नुमिदिया (वर्तमान अल्जीरिया) के थागास्ते नामक शहर में हुआ था। उनके पिता पैट्रिशियस एक गैर-ईसाई अधिकारी थे, जबकि उनकी माता

मोनिका एक धार्मिक ईसाई थीं। आगस्टाइन के प्रारंभिक जीवन पर उनकी माता का गहरा प्रभाव पड़ा, जो बाद में उनके धार्मिक और दार्शनिक विचारों में परिलक्षित होता है।

आगस्टाइन ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा थागास्ते में ही प्राप्त की। उन्होंने लैटिन भाषा और साहित्य का गहन अध्ययन किया। बाद में, उन्होंने कार्थेज में उच्च शिक्षा प्राप्त की, ।अपने युवा वर्षों में, आगस्टाइन विभिन्न दार्शनिक और धार्मिक विचारधाराओं से प्रभावित हुए। उन्होंने मैनिकीवाद का अनुसरण किया, जो एक द्वैतवादी धर्म था जो अच्छाई और बुराई के बीच संघर्ष पर केंद्रित था। हालांकि, बाद में उन्होंने इस विचारधारा को त्याग दिया। इसके बाद, वे नव-प्लेटोवाद की ओर आकर्षित हुए, जिसने उनके दर्शन पर गहरा प्रभाव डाला।आगस्टाइन का जीवन एक महत्वपूर्ण मोड़ पर आया जब वे 32 वर्ष की आयु में ईसाई धर्म में परिवर्तित हुए। यह घटना 386 ई. में मिलान में हुई, जहां उन्होंने एक आध्यात्मिक अनुभव किया जिसे वे "बगीचे का दृश्य" कहते हैं। इस अनुभव के बाद, उन्होंने अपना जीवन ईसाई धर्म को समर्पित कर दिया। 391 ई. में, वे हिप्पो के पादरी बने और बाद में वहां के बिशप बन गए।

आगस्टाइन ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। उनकी दो सबसे प्रसिद्ध कृतियां हैं - "कन्फेशंस" (Confessions) और "द सिटी ऑफ गॉड" (The City of God)। "कन्फेशंस" उनकी आत्मकथा है जो उनके आध्यात्मिक विकास का वर्णन करती है, जबकि "द सिटी ऑफ गॉड" एक दार्शनिक और धार्मिक ग्रंथ है जो ईश्वर के राज्य और पार्थिव राज्य के बीच के अंतर पर केंद्रित है।संत आगस्टाइन की मृत्यु 28 अगस्त 430 ई. को हिप्पो में हुई, जब वंडल लोग शहर का घेराव कर रहे थे। उनकी मृत्यु के बाद भी, उनके विचारों और लेखन का प्रभाव बना रहा। उनके दर्शन ने न केवल मध्ययुगीन ईसाई धर्म को बल्कि प्रोटेस्टेंट सुधार और आधुनिक पश्चिमी दर्शन को भी प्रभावित किया।

7.2 संत आगस्टाइन के प्रमुख दार्शनिक विचार

संत आगस्टाइन का ज्ञान सिद्धांत उनके दर्शन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। उन्होंने माना कि सत्य की खोज मानव जीवन का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य है। आगस्टाइन के अनुसार, सच्चा ज्ञान केवल ईश्वर के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। उनका मानना था कि मानव बुद्धि ईश्वर द्वारा प्रदत्त है और इसलिए, सत्य की खोज में ईश्वर की सहायता अनिवार्य है। आगस्टाइन ने "दैवीय प्रकाशन" (Divine Illumination) का सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस सिद्धांत के अनुसार, जैसे सूर्य का प्रकाश हमें भौतिक वस्तुओं को देखने में सक्षम बनाता है, वैसे ही ईश्वर का प्रकाश हमारी आत्मा को सत्य को समझने में सक्षम बनाता है। उन्होंने तर्क दिया कि मानव ज्ञान अंततः ईश्वर के ज्ञान पर निर्भर करता है।

7.3 ईश्वर की अवधारणा

आगस्टाइन के ईश्वर सम्बन्धी विचारों पर प्लॉटिनस के दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। उसने ईश्वर की अवधारणा नित्य, अपरिवर्तनशील, अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे एक सर्वशक्तिमान तथा पूर्ण शुभ (निरपेक्ष शुभ) अलौकिक तत्त्व के रूप में की है। ईश्वर का स्वरूप और उसका संकल्प अपरिवर्तनशील है। पूर्ण एवं पवित्र ईश्वर अशुभ से परे है। उसमें कर्म और संकल्प (इच्छा-शक्ति) की एकता है। ईश्वर ही जगत् की सभी वस्तुओं का मूल आधार है। आगस्टाइन ने बाइबिल की मान्यताओं को युक्तिसंगत बनाने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कुछ तर्क दिये हैं जो अधोलिखित हैं -

(1) अनिवार्य और सार्वभौम सत्यों पर आधारित युक्ति आगस्टाइन के अनुसार अनिवार्य और सार्वभौम सत्यों की संभावना का कारण न तो जीवात्मा हो सकता है और न संसार की कोई वस्तु हो सकती है। अनिवार्य और सार्वभौम सत्य नित्य होते हैं। नित्य सत्य किसी अनित्य और विशिष्ट व्यक्ति, देश-काल आदि पर आश्रित नहीं हो सकते हैं। अतः उसका कारण एक अनिवार्य और नित्य सत्ता ही हो सकती हैं। यह नित्य और अनिवार्य सत्ता ईश्वर ही हो सकता है। यह युक्ति एक प्रकार से नित्य सत्यों के कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करती है।

(2) कारणात्मक युक्ति - जगत् और प्राकृतिक वस्तुएं कार्यरूप हैं। इस जगत् का कारण सीमित मानवात्मा अथवा कोई अन्य सीमित इकाई (सत्ता) नहीं हो सकती है। कोई भी कार्य बिना किसी उपयुक्त कारण के नहीं हो सकता है। अतः इस कार्य रूप जगत् का कारण ईश्वर ही हो सकताहै। आगस्टाइन ईसाई धर्म की इस मान्यता पर बल देते हैं कि मनुष्य सदैव आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है। आदम के पाप के कारण मानव स्वर्गीयआनन्द से वञ्चित हो गया है। मानव के द्वारा इस उत्कृष्ट दैवी आनन्द की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास यह सिद्ध करता है कि इस दैवी आनन्द का कारण ईश्वर ही हो सकता है।

(3) प्रयोजनमूलक युक्ति आगस्टाइन के अनुसार इस दृश्यमान जगत् में एक व्यवस्था, सौन्दर्य, नियमित परिवर्तन आदि के मूल में कोई न कोई संचालक शक्ति अवश्य होनी चाहिए। इस व्यवस्था का आधार कोई लौकिक सत्ता नहीं हो सकती है। दूसरे शब्दों में, जगत् एक अनुपम और विचित्र रचना है। इसका आधार कोई अलौकिक या दैवी शक्ति होनी चाहिए। इस दैवी शक्ति को ईश्वर कहा जा सकता है। इस तर्क का प्रयोग शंकराचार्य ने भी किया है। उनके अनुसार जगत् की नियामकता एवं वस्तुओं की सप्रयोजनता एक सर्वज्ञ और नियामक तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध करती है। यह युक्ति एक प्रकार का साम्यानुमान है। हम देखते हैं कि साधारण वस्तुओं के निर्माण में भी बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है। जगत् जैसी अनोखी रचना को बनाने में जो बौद्धिक कौशल अपेक्षित है वह ईश्वर में ही हो सकता है। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दी गयी यह युक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आगे चलकर अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने इस युक्ति का प्रयोग ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए किया। यद्यपि आगस्टाइन के बाद के दार्शनिकों ने इस युक्ति को संशोधित एवं परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया, तथापि उनके दर्शन पर आगस्टाइन की इस युक्ति की छाप है।

(4) सार्वभौम सहमति पर आधारित युक्ति

आगस्टाइन का दावा है कि ईश्वर के अस्तित्व के बारे में प्रायः आम सहमति पायी जाती है। दूसरे शब्दों में, यह एक सार्वभौमिक मान्यता है कि ईश्वर ही इस जगत् का स्रष्टा है। विश्व में प्रायः सभी लोग ईश्वर के अस्तित्व में आस्था रखते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ पापी, नास्तिक, अपवित्र एवं दुराचारी व्यक्ति इसके अपवाद हैं, अर्थात् ईश्वर में आस्था नहीं रखते हैं। विश्व की प्रायः सभी संस्कृतियों में लोग किसी न किसी रूप में ईश्वर को स्वीकार करते रहे हैं। ईश्वर के अस्तित्व में लोगों की श्रद्धा से सिद्ध होता है कि ईश्वर की सत्ता है। आगस्टाइन की ये युक्तियाँ कारणात्मक युक्ति के ही विभिन्न रूप हैं। इन युक्तियों पर प्लेटो के दर्शन की मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव है। प्लेटो ने तो ईश्वर को 'स्रष्टा' (Dimurge) नाम से ही संबोधित किया है। उसने ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानते हुए भी उसे परम शुभ कहा है। इसका विवेचन हम प्लेटो के दर्शन में 'शुभ का प्रत्यय' के संदर्भ में कर चुके हैं। आगस्टाइन ने भी ईश्वर को परम शुभ कहा है

7.4 आत्मा और शरीर का द्वैतवाद

आगस्टाइन ने प्लेटो के विचारों से प्रेरित होकर आत्मा और शरीर के द्वैतवाद को स्वीकार किया। उन्होंने माना कि मनुष्य आत्मा और शरीर का संयोग है, जहां आत्मा अमर और श्रेष्ठ है, जबकि शरीर नश्वर और कम महत्वपूर्ण है। हालांकि, उन्होंने शरीर को पूरी तरह से नकारा नहीं, बल्कि इसे आत्मा का साधन माना।

आगस्टाइन के अनुसार, आत्मा तीन प्रमुख शक्तियों - स्मृति, बुद्धि और इच्छा से युक्त है। ये शक्तियां त्रिएक ईश्वर (पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा) के प्रतिबिंब के रूप में कार्य करती हैं। उन्होंने तर्क दिया कि आत्मा का उद्देश्य ईश्वर की ओर उन्मुख होना और उसके साथ एकता प्राप्त करना है।

आत्मा की अवधारणा

आगस्टाइन आत्मा को एक अभौतिक द्रव्य (Substance) मानते हैं। यद्यपि आत्मा शरीर से पृथक् और अमर तत्त्व है, तथापि उसमें बुद्धि, संकल्प और स्मृति ये तीनों शक्तियों अन्तर्निहित हैं। किन्तु प्लॉटिनस के द्वारा प्रतिपादित ईश्वर से

आत्मा का निष्क्रमण उन्हें मान्य नहीं है। आगस्टाइन चमत्कारवादी हैं। ईश्वर अपने चमत्कार के द्वारा आत्मा को शून्य से उत्पन्न करता है। ईश्वर की कृपा से ही मानवात्मा में तत्त्व-ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मा की उत्पत्ति ईश्वरीय चमत्कार से 'काल' (Time) में हुई है, किन्तु वह मृत्यु से परे है। आगस्टाइन ने प्लेटो के समान आत्मा को एक सरल एवं अभौतिक द्रव्य माना है। अभौतिक एवं सरल होने के कारण आत्मा का विभाजन या विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। अतः आत्मा अनिवाशी है। शरीर मे पूर्णतया भिन्न होते हुए भी आत्मा मानव जीवन का मूल आधार है। मनुष्य न केवल आत्मा है और न केवल शरीर है, बल्कि यह आत्मा और शरीर दोनों का संघात है। आत्मा और शरीर में पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होता है? आत्मा शरीर पर कैसे क्रिया करता है? इत्यादि रहस्यात्मक है। ये सब ईश्वरीय चमत्कार की देन है। आगस्टाइन आत्मा के उद्भद का स्पष्ट विवेचन नहीं करता है। किन्तु वह जन्म से पूर्व आत्मा की सत्ता को नहीं मानता है। आत्माएं अनेक हैं। ये अनेक जीवात्माएं ईश्वर से कैसे उत्पन्न होती हैं? यह केवल आस्या का विषय है। इस पर किसी प्रकार का तार्किक बहस करना ठीक नहीं है।

मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य आत्म-ज्ञान एवं ईश्वर-लाभ है। किन्तु ईश्वर-लाभ (God-Realization) इस लौकिक जगत् में संभव नहीं है। सच्चा धार्मिक जीवन एक आदर्श रहस्यात्मक जीवन है। इस संसार में मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकता है। यह प्राकृतिक जगत् दुःखमय एवं निराशाजनक है। आशावादी जीवन इस लौकिक जगत् से परे 'ईश्वर के नगर' में प्राप्त हो सकता है। ईश्वरीय कृपा से ही 'ईश्वर के नगर' में प्रवेश संभव है। ईश्वरीय कृपा ईश्वर के प्रति 'प्रेम' (प्रेमा भक्ति) से ही मिल सकती है। इस प्रकार आगस्टाइन ईश्वर के प्रति आध्यात्मिक प्रेम को ही समस्त सद्गुणों का मूल आधार मानता है। प्रेम और आशा दोनों का आधार ईश्वर के प्रति श्रद्धा (Faith) अथवा दृढ़ विश्वास है। इससे सिद्ध होता है कि ईश्वरीय कृपा के बिना मानव को आनन्द और शान्ति नहीं मिल सकती है।

7.5 जगत् का स्वरूप

आगस्टाइन के अनुसार सृष्टि ईश्वरीय चमत्कार से उत्पन्न हुई है। यह देवी संकल्प या परिणाम है। जगत् की रचना करना न तो ईश्वर का स्वभाव है और न ईश्वर के उत्प्रवाह पर आधारित निष्क्रमण (Emnation) है। आगस्टाइन के द्वारा प्रतिपादित जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त नव्य प्लेटोवादी प्लॉटिनस के निष्क्रमण सिद्धांत से भिन्न है। उल्लेखनीय है कि वह सृष्टि की उत्पत्ति को देश और काल के अन्तर्गत नहीं मानता है। वास्तव में देश और काल की उत्पत्ति भी सृष्टि के साथ हुयी है। ईश्वर के अतिरिक्त लौकिक जगत् की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। समस्त सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वरीय संकल्प या दैवी चमत्कार से हुयी है। जड़ द्रव्य (Matter) भी ईश्वर की ही रचना है। आगस्टाइन ने जड़ द्रव्य को आकार (Form) का पूर्ववर्ती माना है। यदि आकार में पहले जड़ द्रव्य की सत्ता को न माना जाय तो एक समस्या यह है कि जड़ द्रव्य के अभाव में किए आकार प्रदान किया जायेगा। इस समस्या के समाधान के लिए आगस्टाइन ने आकार (Form) से पूर्व जड़ द्रव्य की उत्पत्ति को स्वीकार किया।

प्रश्न उठता है कि सृष्टि की यह उत्पति कैसे होती है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये आगस्टाइन ईसाई धर्म की पौराणिक और धार्मिक मान्यताओं का सहारा लेते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति को दैवी संकल्प अथवा चमत्कार पर आधारित मान करके वे इसे रहस्य का विषय बना देते हैं। इसका ज्ञान बौद्धिक विश्लेषण एवं सामान्य अनुभव से नहीं हो सकता है। आगस्टाइन जटिल दार्शनिक प्रश्नों का तार्किक सामाधान न देकर ईश्वरीय चमत्कार एवं पौराणिक आख्यानों का सहारा लेते हैं। इस प्रकार उनकी सृष्टि मीमांसा प्लेटो के सृष्टि-सिद्धांत से भित्र है। हम देख चुके हैं कि प्लेटो ने जगत् की रचना करने के लिए जड़द्रव्य (Matter) और प्रत्ययों का आकार (Form) दोनों का आश्रय लिया था।

प्लेटो का ईश्वर जगत् का निमित्त कारण मात्र है। प्लेटो दृष्टि को नित्य मानता है। दृष्टि के मूल आधार जड़ द्रव्य और आकार (प्रत्यय) भी नित्य हैं। प्लेटो सृष्टि की रचना में किसी देवी चमत्कार का सहारा नहीं लेता है। वह सृष्टि की बुद्धिवादी और प्रकृतिवादी व्याख्या करता है। इसके विपरीत आगस्टाइन सृष्टि को अनित्य मानता

है। वह सृष्टि की रचना में ईश्वरीय चमत्कार का सहारा लेकर इसे एक रहस्य की वस्तु बना देता है। वस्तुतः वह ईसाई धर्म के मताग्रहों का तार्किक दृष्टि से विवेचन करने का प्रयास करता है। ईश्वर जगत् की रचना शून्य (Nothing) या असत् से करता है। इस प्रकार उसकी सृष्टि-मीमांसा असत् कार्यवाद पर आधारित है। यह मत प्राचीन ग्रीक विचारधारा के विपरीत है। अरस्तू के दर्शन में असत्कार्यवाद का निराकरण किया गया है।।

प्रश्न उठता है कि सृष्टि-रचना में ईश्वर का क्या प्रयोजन हो सकता है? 'आप्तकामस्य का स्पृहा' अर्थात् पूर्ण ईश्वर ने सृष्टि की रचना क्यों किया? आगस्टाइन के अनुसार ईश्वरेच्छा, दैवी अनुग्रह, सृष्टि की चमत्कारिक रचना इत्यादि से सम्बन्धित प्रश्नों को नहीं उठाना चाहिए क्योंकि इन प्रश्नों को समझ पाना मनुष्य के लिये असंभव है। ये समस्याएँ बौद्धिक बहस और तार्किक विश्लेषण के विषय नहीं है। इस सम्बन्ध में चर्च ही सम्यक मार्ग दर्शन कर सकता है। आगस्टाइन के दर्शन का लक्ष्य ईसाई धर्म के मताग्रहों को दार्शनिक आधार प्रदान करके उसक प्रचार-प्रसार करना है। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि उसने ईसाई धर्म को दार्शनिक स्वरूप प्रदान करने के लिये प्लेटो और प्लॉटिनस के दार्शनिक सिद्धांतों का उपयोग किया। उनके दर्शन में ईसाई धर्म की मान्यताओं का सम्मिश्रण प्लेटो और नव्य प्लेटीवाद के दार्शनिक सिद्धांतों के साथ हुआ। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से इन दोनों ही विचारधाराओं के मत एक दूसरे से भिन्न हैं।

प्लेटो की बुद्धिवादी दार्शनिक प्रवृत्ति के साथ ईसाई धर्म की रहस्यवादी और चमत्कारवादी धार्मिक प्रवृत्ति में सामंजस्य तार्किक आधार पर स्थापित न हो सका। किन्तु आगस्टाइन मध्य युग के सबसे महान दार्शनिक माने जाते हैं। उनके दर्शन का प्रभाव मध्य युग से लेकर उनके बाद आने वाले प्रायः सभी दार्शनिकों पर पड़ा। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये आगस्टाइन के द्वारा दी गयी युक्तियो को आधुनिक युग के दार्शनिकों ने संशोधित और परिवर्धित रूप में विकसित क्रिया। इस प्रकार उनके दर्शन का प्रभाव आधुनिक युग के दार्शनिकों पर भी पड़ा है। आगे चलकर शास्त्रीय युग में विकसित दो तलवारों के सिद्धांत के वीज भी उनके दर्शन में

निहित हैं। उन्होंने 'लौकिक जगत्' और 'ईश्वर के नगर' का वर्गीकरण किया है। यह प्रकारान्तर से दो तलवारों के सिद्धांत की ओर संकेत करता है। आगस्टाइन के दर्शन में चर्च की महत्ता प्रतिष्ठापित हुयी जो सम्पूर्ण मध्यकालीन दर्शन पर प्रभावी रही। उनका मुख्य योगदान यह है कि उन्होंने सबसे पहले ईसाई धर्म पर आधारित एक व्यवस्थित दर्शन की स्थापना किया।

7.6 समय का सिद्धांत :

आगस्टाइन ने समय के स्वरूप पर गहन चिंतन किया। उन्होंने समय को एक मानसिक अनुभव के रूप में देखा, न कि एक वस्तुनिष्ठ वास्तविकता के रूप में। उनके अनुसार, समय तीन आयामों - वर्तमान के बारे में अतीत की स्मृति, वर्तमान का प्रत्यक्ष अनुभव, और भविष्य की प्रत्याशा - में विभाजित है। उन्होंने तर्क दिया कि केवल वर्तमान ही वास्तविक है, जबकि अतीत और भविष्य केवल मन में मौजूद हैं। इस प्रकार, समय एक मानसिक विस्तार है जो आत्मा द्वारा अनुभव किया जाता है। आगस्टाइन ने यह भी सुझाव दिया कि ईश्वर समय से परे है और सभी समय एक साथ देखता है।

7.7 अशुभ का सिद्धांत:

अशुभ की समस्या आगस्टाइन के दर्शन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। उन्होंने इस प्रश्न का सामना किया कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान और पूर्णतया अच्छा है, तो दुनिया में बुराई कैसे मौजूद हो सकती है। आगस्टाइन ने तर्क दिया कि बुराई कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, बल्कि यह अच्छाई की अनुपस्थिति या कमी है। उन्होंने दो प्रकार की अशुभ की पहचान की - नैतिक अशुभ और प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा के दुरुपयोग से उत्पन्न होती है, जबकि प्राकृतिक अशुभ (जैसे बीमारी या प्राकृतिक आपदाएं) सृष्टि की अपूर्णता का परिणाम है। आगस्टाइन का मानना था कि ईश्वर ने मनुष्य को स्वतंत्र इच्छा दी है, और इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग अशुभ का कारण बनता है।

7.8 पूर्व-निर्धारण का सिद्धांत:

आगस्टाइन ने पूर्व-निर्धारण के सिद्धांत को प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार ईश्वर पहले से ही निर्धारित कर चुका है कि कौन मोक्ष प्राप्त करेगा और कौन नहीं। उनका मानना था कि मानव जाति पाप से इतनी भ्रष्ट हो चुकी है कि बिना ईश्वर के अनुग्रह के कोई भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

यह सिद्धांत मानव की स्वतंत्र इच्छा और ईश्वर के सर्वज्ञान के बीच तनाव पैदा करता है। आगस्टाइन ने तर्क दिया कि ईश्वर का अनुग्रह स्वतंत्र रूप से दिया जाता है और यह मानव के किसी भी कार्य या गुण पर निर्भर नहीं करता।

इतिहास का दर्शन :

आगस्टाइन ने अपनी प्रसिद्ध कृति "द सिटी ऑफ गॉड" में इतिहास के एक दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। उन्होंने इतिहास को दो शहरों - ईश्वर का शहर और मनुष्य का शहर - के बीच संघर्ष के रूप में देखा। ईश्वर का शहर आध्यात्मिक मूल्यों और ईश्वर के प्रेम पर आधारित है, जबकि मनुष्य का शहर भौतिक इच्छाओं और स्वार्थ पर केंद्रित है। आगस्टाइन के अनुसार, मानव इतिहास इन दो शहरों के बीच संघर्ष की कहानी है। उन्होंने तर्क दिया कि अंततः ईश्वर का शहर विजयी होगा, जो ईसाई धर्म के अंतिम न्याय और स्वर्ग के राज्य के विचार से मेल खाता है।

7.9 संत आगस्टाइन के दर्शन की समीक्षा

हालांकि संत आगस्टाइन के विचारों ने पश्चिमी दर्शन और धर्म पर गहरा प्रभाव डाला है, उनके दर्शन की कई आलोचनाएं और चुनौतियां भी रही हैं। इन आलोचनाओं को समझना आगस्टाइन के दर्शन की गहरी समझ विकसित करने में मदद करता है।

स्वतंत्र इच्छा और पूर्व-निर्धारण का विरोधाभास:

आगस्टाइन के दर्शन में स्वतंत्र इच्छा और पूर्व-निर्धारण के बीच एक स्पष्ट तनाव दिखाई देता है।

a) विरोधाभास: एक ओर, आगस्टाइन मानते हैं कि मनुष्य के पास स्वतंत्र इच्छा है और वे अपने कार्यों के लिए नैतिक रूप से जिम्मेदार हैं। दूसरी ओर, वे यह भी मानते हैं कि ईश्वर पहले से ही निर्धारित कर चुका है कि कौन मोक्ष प्राप्त करेगा।

b) आलोचना: कई दार्शनिकों और धर्मशास्त्रियों ने तर्क दिया है कि ये दो विचार परस्पर विरोधी हैं। यदि ईश्वर पहले से ही सब कुछ निर्धारित कर चुका है, तो मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा कैसे वास्तविक हो सकती है?

c) प्रतिक्रिया: आगस्टाइन के समर्थक तर्क देते हैं कि ईश्वर का पूर्वज्ञान मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा को नहीं छीनता, बल्कि यह केवल भविष्य की घटनाओं का पूर्वानुमान है।

अशुभ की समस्या: आगस्टाइन का अशुभ का सिद्धांत भी आलोचना का विषय रहा है।

a) अपर्याप्त व्याख्या: कुछ आलोचकों का मानना है कि अशुभ को केवल "अच्छाई की अनुपस्थिति" के रूप में परिभाषित करना दुनिया में मौजूद वास्तविक बुराई और पीड़ा की पर्याप्त व्याख्या नहीं करता।

b) ईश्वर की जिम्मेदारी: यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान और पूर्णतया अच्छा है, तो उसने ऐसी दुनिया क्यों बनाई जहां अशुभ संभव है? इस प्रश्न का आगस्टाइन का उत्तर कई लोगों को असंतोषजनक लगता है।

c) प्राकृतिक अशुभ: आगस्टाइन का सिद्धांत नैतिक अशुभ (मनुष्य के कार्यों से उत्पन्न) की व्याख्या कर सकता है, लेकिन प्राकृतिक आपदाओं जैसी प्राकृतिक अशुभ की व्याख्या करने में कठिनाई होती है।

ज्ञान का सिद्धांत:

आगस्टाइन का ज्ञान सिद्धांत, विशेष रूप से "दैवीय प्रकाशन" का विचार, कुछ दार्शनिकों द्वारा आलोचना का विषय रहा है।

a) अतिप्राकृतिक निर्भरता: कुछ आलोचकों का मानना है कि यह सिद्धांत मानव तर्क और अनुभव की भूमिका को कम करके आंकता है और ज्ञान को अत्यधिक अतिप्राकृतिक बना देता है।

b) सत्यापन की कठिनाई: यदि सभी ज्ञान अंततः ईश्वर पर निर्भर करता है, तो हम कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं कि हमारा ज्ञान सही है?

c) वैज्ञानिक पद्धति से असंगति: आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति, जो अवलोकन और प्रयोग पर आधारित है, आगस्टाइन के ज्ञान सिद्धांत से मेल नहीं खाती।

शरीर और भौतिक संसार की अवहेलना: आगस्टाइन के दर्शन में आत्मा पर अधिक और शरीर पर कम जोर देने की आलोचना की गई है।

a) द्वैतवाद की समस्या: शरीर और आत्मा के कठोर विभाजन को कई आधुनिक दार्शनिकों ने चुनौती दी है, जो मानते हैं कि मन और शरीर अधिक घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं।

b) भौतिक संसार का मूल्य: आगस्टाइन के दर्शन में भौतिक संसार को कम महत्व देने की प्रवृत्ति को कुछ लोग प्रकृति और पर्यावरण के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को बढ़ावा देने वाला मानते हैं।

लैंगिक नैतिकता और महिलाओं की स्थिति: आगस्टाइन के यौन नैतिकता और महिलाओं के बारे में विचारों की व्यापक आलोचना की गई है।

a) यौन नैतिकता: उनके यौन संबंधों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को कई आधुनिक विचारक अत्यधिक प्रतिबंधात्मक और अस्वास्थ्यकर मानते हैं।

b) महिलाओं की स्थिति: आगस्टाइन के लेखन में महिलाओं के बारे में कुछ विचारों को आज के समय में भेदभावपूर्ण और पितृसत्तात्मक माना जाता है।

धार्मिक असहिष्णुता: कुछ आलोचक मानते हैं कि आगस्टाइन के विचारों ने धार्मिक असहिष्णुता को बढ़ावा दिया।

a) एकमात्र सत्य धर्म: उनका दृढ़ विश्वास कि ईसाई धर्म ही एकमात्र सच्चा धर्म है, अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता को प्रोत्साहित कर सकता है।

b) धार्मिक बहुलवाद की चुनौती: आधुनिक, बहुसांस्कृतिक समाज में, जहां धार्मिक विविधता को मूल्यवान माना जाता है, आगस्टाइन का दृष्टिकोण चुनौतीपूर्ण हो सकता है।

ऐतिहासिक संदर्भ की सीमाएं: कुछ आलोचक तर्क देते हैं कि आगस्टाइन के विचार उनके समय और स्थान से बहुत प्रभावित थे, जो उन्हें आधुनिक संदर्भ में कम प्रासंगिक बनाता है।

a) रोमन साम्राज्य का प्रभाव: उनके राजनीतिक विचार रोमन साम्राज्य के संदर्भ में विकसित हुए थे, जो आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों से बहुत भिन्न था।

b) वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाएं: आगस्टाइन के समय में वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाओं ने उनके कुछ दार्शनिक निष्कर्षों को प्रभावित किया, जो आज के वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में चुनौतीपूर्ण हो सकते हैं।

7.10 सारांश

आलोचनाओं और चुनौतियों के बावजूद, यह स्वीकार करना महत्वपूर्ण है कि संत आगस्टाइन के विचार पश्चिमी दर्शन और धर्म में अत्यंत प्रभावशाली रहे हैं। उनके दर्शन ने गंभीर बौद्धिक चर्चाओं को प्रेरित किया है और आज भी दार्शनिक और धार्मिक चिंतन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इन आलोचनाओं को समझना हमें आगस्टाइन के विचारों की गहरी और अधिक संतुलित समझ विकसित करने में मदद करता है।संत आगस्टाइन के दर्शन की समकालीन प्रासंगिकता इस बात का प्रमाण है कि मानवीय चिंतन के मूलभूत प्रश्न समय के साथ अपरिवर्तित रहते हैं। हालांकि हमारा ज्ञान और समझ विकसित हुई है।

संत आगस्टाइन के दर्शन का अध्ययन एक गहन और बहुआयामी प्रक्रिया है। यह न केवल पश्चिमी दर्शन और धर्म के इतिहास को समझने में मदद करता है, बल्कि

व्यक्तिगत और सामूहिक चिंतन के लिए भी एक समृद्ध स्रोत प्रदान करता है। आगस्टाइन के विचारों का गहन, आलोचनात्मक और संवेदनशील अध्ययन हमें न केवल अतीत को बेहतर ढंग से समझने में मदद करता है, बल्कि वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने और भविष्य के लिए नए विचार विकसित करने में भी सहायक हो सकता है।

7.11 बोध- प्रश्न

1. सैंट अगस्टाइन द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी गई युक्तियों की समीक्षा कीजिए।

2. सैंट अगस्टाइन द्वारा जगत की व्याख्या की विवेचना कीजिए।

3. सैंट अगस्टाइन के आत्मा विषयक संप्रत्य का वर्णन कीजिए।

7.12 उपयोगी पुस्तकें

1.पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।

2.पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4.पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

----00000----

खण्ड–3 बुद्धिवाद और अनुभववाद

खण्ड परिचय –

इस खंड में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि यह विश्व किस परम तत्व से बना है। विश्व का 'मूल तत्व' क्या है या वह आधारभूत सत्ता क्या है जिससे संसार निर्मित हुआ है। मूल तत्व या आधारभूत सत्ता की खोज दर्शन की जिस शाखा के अंतर्गत किया जाता है उसे 'सत्ता मिमांसा(Ontology) की संज्ञा दी जाती है।

हम जानने का प्रयास करेंगे चित्त एवं अचित्त के स्वरूप को एवं उनके बीच क्या कोई संबंध हो सकता है या वह संबंध कैसा है? प्रस्तुत खंड में हमारा उद्देश्य आपको ज्ञान की उत्पत्ति के पक्ष से अवगत करने के साथ ही ज्ञान प्राप्ति हेतु बुद्धिवादी, अनुभववादी तथा काण्ट के आलोचनावाद को समझाते हुए, ज्ञान की सीमाओं से भी अवगत कराना है।

अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद दर्शन की वह वैचारिक प्रणाली है जो आत्मा, मन, चैतन्य या प्रत्यय को विश्व की मूलभूत सत्ता या तत्व मानती है। यहां माना जाता है कि समस्त भौतिक पदार्थ का मूल मनस या आत्मा है। इसमें यह माना जाता है कि आत्म तत्व जड़ तत्व का किसी न किसी रूप में आधार है। अध्यात्मवाद जड़वाद का विपरीत सिद्धांत है। जड़वाद में जड़ या भौतिक तत्व को इस संसार का मूल कारण माना जाता है एवं जड़ की स्वतंत्रता सत्ता को स्वीकार करता है।

केवल प्रत्यय जगत को मानकर बर्कले ने लॉक के द्वैतवाद को खत्म कर दिया। वह अंतर्बोध को आत्मज्ञान व सामान्यों के ज्ञान का साधन मानता है। इस प्रकार हमारा ज्ञान मात्र अनुभव सापेक्ष प्रत्यय तक ही सीमित नही है। हमारा ज्ञान बौद्धिक होने के साथ ही पारमार्थिक भी है। ह्यूम अनुभववाद को तार्किक पराकाष्ठा पर पहुंचते हैं और क्योंकि तत्व मीमांसा का हमें

अनुभव नहीं होता अतः उन्होंने तत्व मीमांसीय सत्ता जैसे आत्मा, ईश्वर, द्रव्य इत्यादि की सत्ता पर प्रश्न चिन्ह लगाया।

इकाई - 8 द्रव्य की समस्या

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 द्रव्य की समस्या के समाधान से संबंधित प्रमुख दृष्टिकोण

8.3.1 बहुतत्ववाद

8.3.2 द्वितत्ववाद

8.3.3 एकतत्ववाद

8.3.1 बहुतत्ववाद के 4 रूप

8.3.1.1 यूनानी बहुतत्ववाद

8.3.1.2 आध्यात्मिक बहुतत्ववाद

8.3.1.3 व्यवहारवादी बहुतत्ववाद

8.3.1.4 नव्य वस्तु स्वातंत्रवादी बहुतत्ववाद

8.3.1.5 बहुतत्ववाद की समीक्षा

8.3.2 द्वितत्ववाद

8.3.2.1 द्वितत्ववाद की समीक्षा

8.3.3 एकतत्ववाद

8.3.3.1 स्पिनोजा का द्रव्य सिद्धांत

8.3.3.2 हेगल का मूर्त एकतत्ववाद

8.3.3.3 एकतत्ववाद की समीक्षा

8.4 सारांश

8.5 बोध प्रश्न

8.6 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

----------0000----------

8.1 उद्देश्य

आदि काल से ही दार्शनिकों के बीच यह एक प्रमुख विषय चर्चा का रहा है कि यह विश्व किस परम तत्व से बना है। विश्व का 'मूल तत्व' क्या है या वह आधारभूत सत्ता क्या है जिससे संसार निर्मित हुआ है। मूल तत्व या आधारभूत सत्ता की खोज दर्शन की जिस शाखा के अंतर्गत किया जाता है उसे 'सत्ता मिमांसा' (Ontology) की संज्ञा दी जाती है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम सत्ता मिमांसा से संबंधित प्रमुख पाश्चात्य विचारधाराओं से परिचित हो सकेंगे।

8.2 प्रस्तावना

सर्वप्रथम यहां यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि हम 'विश्व मिमांसा' (cosmology) व 'सत्ता मिमांसा' का अंतर समझते हुए आगे बढ़े।

जब हम इस विचार-विमर्श में सम्मिलित होते हैं कि किस प्रक्रिया द्वारा इस संसार का विकास हुआ है और किन स्तरों से आगे बढ़ते हुए संसार अपने इस वर्तमान स्थिति/ अवस्था तक विकसित हुआ है। तब हम 'विश्व मिमांसा' के क्षेत्र में है। इससे पृथक जब हम इस तरह की समस्या पर विमर्श करते हैं कि संसार किस एक मूल तत्व से बना है या फिर अनेक तो इस तरह के विमर्श को 'सत्ता मिमांसा' (Ontology) कहा जाएगा।

इस इकाई में हम 'सत्ता मिमांसा' से संबंधित समस्या 'द्रव्य की समस्या' पर विचार करेंगे।

8.3 द्रव्य की समस्या

सृष्टि का परम तत्व या सृष्टि का अंतिम तत्व क्या है या ये कितने हैं इस समस्या के समाधान हेतु दार्शनिक मुख्य रूप से तीन दृष्टिकोण में वर्गीकृत किया जाते हैं :

8.3.1 बहुतत्ववाद Pluralism अर्थात सृष्टि में अनेक मूलतत्व है।

8.3.2 द्वितत्ववाद Dualism सृष्टि के दो आधारभूत तत्व है। अंतिम तत्व केवल दो है।

8.3.3 एकतत्ववाद (Monism) जिसके अनुसार सृष्टि का आधारभूत तत्व केवल एक हैं।

8.3.1 बहुतत्ववाद (Pluralism)

इस सिद्धांत के अनुसार संसार अनगिनत स्वतंत्र सत्ताओं का यांत्रिक समूह है। सृष्टि की विविधताओं की व्याख्या एक या दो तत्व से नहीं की जा सकती। संसार के मूल में अनेक तत्व है -

बहुतत्ववाद के रूप - मुख्य रूप से ये चार प्रकार के होते हैं -

1. यूनानी बहुतत्ववाद (Greek Pluralism)
2. आध्यात्मिक बहुतत्ववाद (Spiritualistic Pluralism)
3. व्यवहारवादी बहुतत्ववाद (Pragmatic Pluralism)
4. नव्य- वस्तुस्वातंत्र्यवादी बहुतत्ववाद (Neo-realistic Pluralism)

8.3.1.1 यूनानी बहुतत्ववाद

यूनानी दर्शन में सर्वप्रथम इम्पीडोकल्स (Empedocles) ने सृष्टि के चार मूल तत्व अग्नि, वायु, जल तथा पृथ्वी माना। इसके पश्चात डेमोक्रेट्स (Democritus) ने बताया कि विश्व का अंतिम तत्व असंख्य भौतिक परमाणु (Material Atoms) है जो सदा गतिशील रहते हैं। गतिशीलता इनका स्वभाव है। जब ये परमाणु विभिन्न

मात्राओं में परस्पर मिश्रित होते हैं तो सृष्टि के विविध पदार्थों को जन्म देते हैं। परमाणुओं की गति यांत्रिक नियमों से नियंत्रित होती है। परमाणुओं का कोई प्रयोजन नहीं है। विकास क्रम के विभिन्न स्तरों से गुजरते हुए ये भौतिक परमाणु चेतना को उत्पन्न करते हैं।

एपीक्यूरस का मानना है कि सृष्टि का न तो कोई सृजन होता है न ही विनाश, यह सब परमाणुओं की क्रीड़ा मात्र है। यह क्रीडा प्रयोजन रहित है। ये परमाणु रिक्त देश में घूमते रहते हैं। संसार की व्याख्या केवल यांत्रिक नियमों के आधार पर की जा सकती है। एपिक्यूरस के अनुसार चित्त या आत्मा पूर्णतः भौतिक है और पुद्गल अचित्त (Matter) से बना है। देह के नष्ट होते ही वह भी समाप्त हो जाती है।

8.3.1.2 आध्यात्मिक बहुतत्ववाद

जर्मन दार्शनिक लाइब्निट्ज को पाश्चात्य दर्शन में आध्यात्मिक बहुतत्ववाद का जनक कहा जा सकता है। उनके अनुसार विश्व का अंतिम तत्व आध्यात्मिक परमाणु है जो की चिद् बिंदु (Monads) है।

(a) चिद् बिंदुओं का स्वरूप

भौतिक वस्तुओं से भिन्न चिद् बिंदु अविस्तृत चेतन अणु है जो आत्म क्रियाशील (self active) है। ये तत्वमिमांसीय (Metaphysical point) हैं। चिद् बिंदु अनादि - अनंत व नित्य है। ये निरवयव, अविभाज्य व चेतन हैं।

(b) चिद् बिन्दुओ के प्रकार

चिद् बिंदुओं में केवल परिमाणात्मक भेद है। संसार में दृश्यमान विविधताएं इनके परिमाणात्मक भेद के कारण है। इनमें कोई गुणात्मक भेद नहीं होता। चैतन्य के परिमाणात्मक स्वरुप भेद के अनुरूप चिद् बिंदुओं की पांच श्रेणियां है -

(i) प्रथम श्रेणी में तथाकथित जड़ तत्व आते हैं, इसमें चैतन्य सुप्तरुप या मूर्च्छित रूप में विद्यमान रहता है।

(ii) द्वितीय श्रेणी में वनस्पति जगत आता है जिसमें चैतन्य स्वप्न जैसी अवस्था में स्थित रहता है। यहां प्राण का स्पंदन सूक्ष्म रूप में होता है।

(iii) तृतीय श्रेणी में पशु जगत का स्तर आता है। यहाँ चिद् बिंदु चेतन चिद् बिंदु होते हैं। यह स्पष्ट संवेदन व क्षीण ज्ञान का स्तर है। यहाँ चैतन्य जागृत होता है।

(iv) चतुर्थ श्रेणी मानव जगत का स्तर है। यहाँ चैतन्य स्वचैतन्य या चिद् बिंदु स्वचेतन चिद् बन जाते हैं।

(v) पांचवीं श्रेणी यह स्पष्टम एवं पूर्ण ज्ञान का स्तर है। इसमें केवल एक परम चिद् बिंदु है। इसे लाइब्निट्ज- ने ईश्वर कहा है। यह अन्य चिद् बिंदुओं की सृष्टि करता है।

संसार के जीव चिद् बिंदुओं के समूह है। शरीर में चिद् बिंदुओं के समूह में एक चिद् बिंदु मुख्य होता है जिसे जीव धारी की आत्मा कहा जाता है। आत्मा स्वचेतन व जागृत चिद् बिंदु है और अन्य चिद् बिंदुओं का समूह जो सुप्तावस्था में होते हैं जीवधारी का शरीर है।

प्रत्येक चिद् बिंदु दूसरे सामान्य चिद् बिंदु से निरपेक्ष हैं। प्रत्येक चिद् बिंदु मात्र परमात्मा पर ही निर्भर है। प्रत्येक चिद् बिंदु बंद कमरे के समान होता है जिसमें कोई खिड़की नहीं होती अर्थात अन्य चिद् बिंदुओं से किसी प्रकार का आदान-प्रदान या अन्य कोई संबंध नहीं होता।

पूर्व स्थापित सामंजस्य (Pre established harmony)

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि प्रत्येक चिदणु स्वतंत्र या निरपेक्ष है तो मनस या शरीर के संबंध की व्याख्या कैसे की जा सकती है?

लाइब्निट्ज इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि यह सत्य है कि चिदणु एक दूसरे से निरपेक्ष है फिर भी ईश्वर ने उन्हें एक तंत्र में बांध रखा है जिसे 'पूर्व स्थापित सामंजस्य'कहा जाता है। जिस प्रकार एक घड़ीसाज दो घड़ियाँ बनाकर उनमें एक प्रकार की व्यवस्था कर देता है कि वे दोनों एक समय बताती हैं। वैसे ही ईश्वर

मनस व शरीर का सृजन करते समय ऐसी व्यवस्था कर देता है कि एक में कोई क्रिया हो तो उसके प्रतिक्रिया दूसरे में अवश्य दिखाई पड़ती है।

चिद् बिंदुओं में ब्रह्मांड का प्रतिनिधित्व है चिद् बिंदुओं में जो चित्त शक्ति है उसमें संपूर्ण विश्व का भूत, वर्तमान व भविष्य सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। चिद् बिंदु के क्रमिक विकास के साथ चैतन्य की अभिवृद्धि होती है। उसका ज्ञान अधिक स्पष्ट हो जाता है और वह विश्व को अधिकाधिक प्रतिबिंबित करने लगता है।

8.3.1 -3 व्यवहारवादी बहुतत्ववाद

अमेरिकी दार्शनिक विलियन जेम्स ने हीगेल के निरपेक्ष सत्तावाद (absolutism) पर प्रतिक्रिया स्वरूप कहा है कि यह विश्व एक ही निरपेक्ष सत्ता या तत्व का प्रकाश नहीं है। विश्व के मूल में अनेक तत्व हैं जिनसे इसका निर्माण हुआ है। इस विश्व में अनेक प्रकार की स्वतंत्र सत्ताएं हैं। यह विश्व एकात्मक न होकर अनेकात्मक है। जेम्स के अनुसार यह विश्व बंद ब्रह्मांड (Block Universe) नहीं है जहां पर सब कुछ ईश्वर द्वारा पहले से निर्धारित कर दिया गया है। जेम्स के अनुसार विश्व स्वतंत्रत, अनिर्धारित व विविधताओं से परिपूर्ण है। परिवर्तनशीलता ही विश्व का स्वभाव है। जीव स्वतंत्र है और स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। ईश्वर महान चेतन सत्ता है परंतु अनंत सत्ता नहीं जो समस्त विश्व की घटनाओं को नियंत्रित करें।

जेम्स के अनुसार यदि हम हीगेल के निरपेक्ष सत्तावाद को मानें तो हम निराशावाद व भाग्यवाद (Fatalism) से घिर जाएंगे और अकर्मण्य, प्रमादी व निरुत्साही बन जाएंगे। क्योंकि हीगेल के अनुसार सभी वस्तुएं व घटनाएं निरपेक्ष सत्ता का बाह्य प्रकाश या बाह्य रूप है, वे पूर्णरूपेण उस निरपेक्ष सत्ता पर अवलंबित हैं। जीव की समस्त क्रियाएं उस सत्ता द्वारा ही नियंत्रित होती है।

हीगेल के विपरीत जेम्स दर्शन में सच्ची स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपना लक्ष्य और अपना शुभ चुनने के लिए स्वतंत्र है।

8.3.1.4 नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवादी बहुतत्ववाद

नव्य वस्तुस्वातंत्र्यवादी बहुतत्ववाद भी हीगल के निरपेक्ष सत्तावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुआ। यह विश्व की विविधता के बजाय विचार एवं मूल्य की विविधता व विलक्षणता पर बल देता है। मानसिक घटनाएं भी भौतिक घटनाओं जितनी ही सत्य होती हैं। जैसे विभिन्न तार्किक सिद्धांत और विविध मूल्य बाह्य वस्तुओं की भांति देश - काल में स्थित नहीं है फिर भी वह सत् (subsistent) अवश्य हैं। संसार का स्वरूप यांत्रिक न होकर प्रयोजनात्मक है। अतः नई-नई आवश्यकताओं के अनुरूप नई-नई वस्तुओं और मूल्यों की सृष्टि स्वाभाविक रूप से होती है। इनके अनुसार बाह्य वस्तुओं की सत्ता मनस पर निर्भर नहीं है बल्कि मनस ही बाह्य वस्तुओं की सत्ता पर आश्रित है।

विभिन्न बहुतत्ववाद की मूलभूत विशेषताएं

1) विश्व की वस्तुओं में आंतरिक संबंधों का आभाव जगत की विविधताओं को सिद्ध करता है जैसे एक वस्तु के नष्ट हो जाने से दूसरी वस्तु के स्वरूप पर फर्क नहीं पड़ता।

2) हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव से यह पाते हैं कि विश्व अनेकात्मक है केवल बौद्धिक आधार पर इस विविधात्मक विश्व की व्याख्या मात्र एकतत्व द्वारा नहीं की जा सकती।

3) यदि बुद्धि से विचार करें तो भी संसार में अनेकता ही दृष्टिगत होती है। जैसे - भौतिक पदार्थ और मानसिक घटनाओं को एक ही नहीं कहा जा सकता।

4) विश्व में सदैव नवीन घटनाएं होती रहती हैं। नवीन वस्तुओं और मूल्यों की उत्पत्ति होती रहती है। अतः विश्व की व्यवस्था पूर्व निर्धारित नहीं है।

5) विश्व में केवल भौतिक पदार्थ सत्य नहीं है बल्कि विचार और मूल भी सत्य है।

6) मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है क्योंकि उसे कम करने की स्वतंत्रता प्राप्त है।

8.3.1.5 बहुतत्ववाद की समीक्षा

यह सिद्धांत जनसाधारण को सरलता से समझ आ जाता है। परंतु इस सिद्धांत में कुछ दार्शनिक कठिनाइयां हैं -

1) बहुतत्ववादी विश्व की अनेकतत्वता को अनुभव के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। परंतु ध्यान से देखें तो हम पाएंगे कि जहां एक ओर हमारा अनुभव विश्व की विविधता, अनेकात्मकता का दर्शन करता है, वहीं दूसरी ओर हमें विश्व की एकात्मकता सादृश्यता का भी अनुभव कराता है। सृष्टि की अनेकता के पीछे निहित एकता के पक्ष पर ध्यान देने से संपूर्ण विश्व धीरे-धीरे हमें एकरूपता से युक्त दिखने लगता है।

2) विज्ञान के नियम सार्वभौमिक होते हैं। बौद्धिक विचार अनुभव से कहीं अधिक जगत की एकात्मकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। ज्ञान विज्ञान का आधार सृष्टि की एकरूपता का सिद्धांत है अन्यथा यह संभव न हो पाता।

3) बहुतत्ववाद वस्तुओं में बाह्य संबंध स्वीकार करता है। अब यदि पदार्थ एक दूसरे से पूर्ण स्वतंत्र व निरपेक्ष है तो उनमें संबंध की स्थापना कर पाना भी संभव न होगा।

यदि हम संसार की वस्तुओं को ध्यान से देखे तो हम पाते हैं कि विभिन्न वस्तुएं एक दूसरे को विशेष प्रकार से प्रभावित करती है। इनमें विशेष प्रकार का आंतरिक संबंध होता है, जैसे पेट्रोल से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तो वहीं जल से बुझ जाती है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि विभिन्न पदार्थ आंतरिक रूप से सम्बद्ध हैं। पदार्थ एक दूसरे से स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं है। पदार्थ की आंतरिक संबद्धता से विश्व की एकात्मकता का ज्ञान होता है।

4) बहुतत्ववादी व द्वितत्ववादी दोनों मनस और शरीर के पारस्परिक संबंध की समस्या का उपयुक्त समाधान नहीं कर पाते क्योंकि उनके अनुसार मनस और शरीर एक दूसरे से भिन्न है और तर्कशास्त्र कहता है कि जब तक दो वस्तुओं में कुछ

समानता न हो तब तक उनके मध्य क्रिया प्रतिक्रिया संभव नहीं है। इसी कारण से लाइब्निट्ज और डेकार्ट के समाधानों में अनेक तार्किक दोष मिलते हैं।

5) यद्यपि विश्व में विविधता है, विलक्षणता है तथापि साथ ही साथ वस्तुओं और जीवधारियों में सुव्यवस्था, सहयोग और तारतम्य भी है। बहुतत्ववाद के आगे विश्व में व्याप्त इस व्यवस्था की व्याख्या का प्रश्न चुनौती के रूप में खड़ा हो जाता है कि जब विश्व में अनेक स्वतंत्र व निरपेक्ष तत्व है तो यह व्यवस्था कैसे संभव होती है?

यूनानी परमाणुवादी विश्व का अंतिम तत्व असंख्य परमाणुओं को मानते हैं जो अचेतन है, परंतु ये परस्पर मिलकर किस प्रकार से एक सुव्यवस्थित सृष्टि की रचना करते हैं यह स्पष्ट नहीं हो पाता है।

आध्यात्मिक बहुतत्ववादी लाइब्नीत्ज विश्व में व्याप्त सुव्यवस्था की व्याख्या 'पूर्व स्थापित सामंजस्य' सिद्धांत द्वारा करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार एक चिदणु में क्रिया के द्वारा दूसरे चिदणु में प्रतिक्रिया होने का कारण चिदणुओं का परस्परिक संबंध नहीं बल्कि ईश्वर द्वारा स्थापित 'पूर्व सामंजस्य' है। लाइब्नीत्ज के इस सिद्धांत से चिदणुओं के स्वतंत्रता बाधित होती है क्योंकि तब ये चिदणु ईश्वर के हाथ की कठपुतली मात्र बन जाते हैं। वहीं लाइब्नीत्ज चिदणुओं को स्वतंत्र ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों विरोधाभासी व्याख्या को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

व्यवहारवादी बहुतत्ववादी भी वस्तुओं व जीवों की स्वतंत्रता पर बल देते हैं जिससे विश्व की व्यवस्था और सामंजस्य की समुचित व्याख्या या समाधान यहां भी प्राप्त नहीं हो पाता।

6) बहुतत्ववादी सिद्धांत अनेक स्वतंत्र केंद्रीय सत्ताएं मानते हैं जिससे स्वाभाविक रूप से इन सिद्धांतों में ईश्वर की केंद्रीय सत्ता लुप्त हो जाती है। यूनानी बहुतत्ववाद ईश्वर जैसे किसी केंद्रीय सत्ता को स्वीकार नहीं कर पाता। लाइब्नीत्ज अपने बहुतत्ववाद में ईश्वर को स्थान देते हैं किंतु वह उनके चिदणुओ (स्वतंत्र तत्वों) में से एक चिदणु मात्र बन कर रह जाता है। निश्चय ही ऐसा ईश्वर - ईश्वर कहलाने के

पात्र नहीं रह जाता। व्यवहारवादी बहुतत्ववादी अमेरिकी दार्शनिक विलियम जेम्स जीवों के कर्म स्वातंत्र्य को सुरक्षित रखने के लिए ईश्वर को अनेक चेतन सत्ताओं में से एक महान चेतन सत्ता मात्र माना है। इस प्रकार यहां भी ईश्वर के ईश्वरत्व को सीमित कर दिया जाता है।

इस प्रकार नव्य वस्तुस्वातंत्र्यवादी ईश्वर को मूल्यों की समष्टि मात्र मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह ईश्वर धर्मनिष्ठ जनसामान्य के लिए जगत सृष्टा या जगात पलक ईश्वर का रूप नहीं ले पाएगा।

8.3.2 द्वितत्ववाद (Dualism)

हम अपने चारों ओर ध्यान से देखें हैं तो हम पाते हैं कि हम दोनों तरह के तत्वों का अनुभव करते हैं, एक जो जड़ है और दूसरा जो चेतन है। चेतन प्राणियों में इच्छा, संकल्प, भावना, संवेग, कल्पनाएं, विचार आदि होते हैं। वहीं अचेतन या जड़ में संवेग, संकल्प, भावना, ज्ञान या चेतना का अभाव होता है। द्वितत्ववादियों के अनुसार जड़ एवं चेतना ब्रह्मांड के आधारभूत तत्व है जो पृथक-पृथक है इन्हें एक दूसरे के रूप में नहीं परिणत किया जा सकता।

1. प्लेटो -

पाश्चात्य जगत में सर्वप्रथम द्वितत्ववाद का समर्थन यूनानी दार्शनिक प्लेटो के दर्शन में मिलता है। उनके अनुसार सृष्टि के दो परमतत्व है - "शिवम" या शुभ का प्रत्यय और दूसरा पुद्गल (Matter)

शुभ सार्वभौम प्रत्यय है। विभु एवं चेतन तत्व है। दूसरी ओर पुद्गल इसके विपरीत अचेतन एवं भौतिक है, अनित्य है, अपूर्ण है। शिव नित्य एवं पूर्ण है।

2. अरस्तु -

अरस्तु के अनुसार सृष्टि के दो मूल तत्व हैं (1) पुद्गल (द्रव्य) और (2) आकार (Form) । पुद्गल विशिष्ट व सीमित है जबकि आकार सार्वभौम व विचार रूप है।

3. डेकार्ट

फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्ट संसार के दो परमतत्वों को मानते हैं - अचित्त एवं चित्त दोनों को वह द्रव्य कहते हैं। उनके अनुसार "द्रव्य वह है जिसकी स्वतंत्र सत्ता हो अपने अस्तित्व के लिए अन्य तत्व या सत्ता पर निर्भर नहीं रहता"। और डेकार्ट अपनी ज्ञान मिमांसा में यह पाते हैं कि ऐसी सत्ता केवल दो प्रकार की होती है (यद्यपि वे तीन द्रव्य मानते हैं परंतु सत्ता का प्रकार दो ही होता है)। ये दो प्रकार की सत्ताएं है - अचित्त एवं चित्त। इन द्रव्यों के गुण भिन्न है। अचित्त का गुण 'विस्तार' है तो वहीं चित्त का गुण 'विचार' है। अचित्त स्थान घेरता है जबकि चित्त स्थान नहीं घेरता। चित्त विभु (सर्वव्यापक) व चैतन्य है। चित्त अविभाज्य है। अचित्त विभाज्य है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब चित्त व अचित्त विरोधी तत्व है तो इनमें संबंध कैसे स्थापित होता है? इसका उत्तर डेकार्ट अंतर्क्रियावाद (Interactionism) के सिद्धांत द्वारा देते हैं। उनके अनुसार मस्तिष्क के मध्य में स्थित पीनियल ग्रंथि (Gland) द्वारा दोनों के मध्य क्रिया प्रतिक्रिया संभव होती है।

भाषा के स्तर पर यदि हम देखें तो हम पाते हैं कि भाषा के स्तर पर भौतिक पदार्थ तथा मानसिक घटनाओं का विभाजन रहता है। हम जिन शब्दों का प्रयोग भौतिक पदार्थों के लिए करते हैं उनसे भिन्न शब्दों का प्रयोग मानसिक घटनाओं के लिए करते हैं। अतः भाषा के स्तर पर हम कहीं न कहीं द्वितत्ववाद को स्वीकार करते हैं।

सामान्य अनुभव में भी हम पाते हैं कि भौतिक पदार्थों के लक्षण व मानसिक क्रियाओं के लक्षण परस्पर भिन्न होते हैं। भौतिक तत्वों व घटनाओं का हम अपनी पांच ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष कर लेते हैं किंतु मानसिक घटनाओं का इंद्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता। इनका केवल अंतर्दर्शन (Introspection) द्वारा अनुभव किया जाता है।

हम यदि मानसिक तत्वों को न स्वीकार करें तो स्मृति व स्वप्न आदि की संभावना भी नहीं रह जाएगी क्योंकि दोनों (स्मृति व स्वप्न) भौतिक पदार्थों से बिल्कुल पृथक होते हैं।

अनेक दर्शनिकों व वैज्ञानिकों ने अचित्त एवं चित्त तत्व को एक दूसरे में घटित करने का प्रयास किया है किंतु उनका प्रयास सफल नहीं रहा। जिससे भी यह प्रमाणित होता है कि अचित्त व चित्त एक दूसरे से पूर्णता स्वतंत्र परम तत्व है।

8.3.2.1 द्वितत्ववाद की समीक्षा

द्वितत्ववाद के जड़ एवं चेतन पूर्ण स्वतंत्रत और विरोधी गुण वाले हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि इनका परस्पर सामंजस्य या सहयोग कैसे हो जाता है और वह कैसे परस्पर मिलकर इस विश्व की व्यवस्था में सहयोगी हो जाते हैं?

यूनानी दार्शनिक प्लेटो के अनुसार शुभ के प्रत्यय की छाप जड़ पर पड़ती है तो जगत का विकास होता है परंतु शुभ का प्रत्यय और पुद्गल विरोधी तत्व हैं। उनमें कोई समान गुण है ही नहीं तो वह एक दूसरे की छाप को कैसे ग्रहण कर पाते हैं?

डेकार्ट ने शरीर व मनस के संबंध की समस्या का समाधान मस्तिष्क में स्थित पीनियल ग्रंथि द्वारा करने का प्रयास किया परंतु डेकार्ट एक ओर मनस या चित्त को अभौतिक और विस्ताररहित तत्व बताते हैं और दूसरी और उसे एक स्थल पर विद्यमान मानते हैं। यदि शरीर और मनस क्रिया - प्रतिक्रिया करते हैं तो उनके मूलभूत स्वरूप में कुछ समानता होनी आवश्यक है। परस्पर विरोधी होने पर यह संभव नहीं लगता। वर्तमान समय में विज्ञान में शक्ति संरक्षण के नियम (Law of Conservation) को स्वीकार किया जाता है। यदि शरीर चित्त पर क्रिया करता है तो भौतिक शक्ति का ह्रास होगा और मानसिक शक्ति की अभिवृद्धि होगी। वहीं दूसरी ओर जब चित्त शरीर पर क्रिया करता है तो मानसिक शक्ति का ह्रास होगा और शारीरिक शक्ति की अभिवृद्धि। इस प्रकार से इन परिवर्तनों में शारीरिक शक्ति का कुछ अंश मानसिक शक्ति का रूप धारण कर लेता है और मानसिक शक्ति का कुछ हिस्सा शारीरिक शक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। डेकार्ट चूँकि शक्ति के एकतत्व को इस रूप में स्वीकार नहीं करते अतः वे शक्ति संरक्षण के नियम को स्वीकार नहीं करते हैं।

● शरीर एवं चित्त के बीच संबंध की व्याख्या करते हुए गिलीनेक्स (Geulincx) एवं मेलब्रांश (Malebranche) ने यथावसरवाद (Occasionalism) का सहारा लिया है, जिसके अनुसार जब चित्त में भावना, संकल्प, ज्ञान के रूप में कोई परिवर्तन या क्रिया होती है तो ईश्वर उसी के अनुरूप शरीर में परिवर्तन उत्पन्न करता है और जब शरीर में परिवर्तन या क्रिया होती है तो ईश्वर चित्त में इस प्रकार की संवेदनाएं (Sensations) उत्पन्न कर देता है।

परंतु इस प्रकार का विचार दार्शनिकों की कल्पना प्रतीत होता है, प्रामाणिक नहीं लगता।

● ज्ञानमिमांसीय दृष्टिकोण से द्वितत्ववाद के सम्मुख कठिनाई उत्पन्न होती है कि यदि चित्त एवं अचित्त एक दूसरे से स्वतंत्र तत्व है तो चित्त को अचित्त या भौतिक पदार्थ का ज्ञान कैसे होता है? और यह तो सत्य है कि चित्त को अचित्त का ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध होता है, किंतु द्वितत्ववादी दार्शनिक इस ज्ञानमिमांसीय समस्या का कोई समाधान नहीं कर पाते।

8.3.3 एकतत्ववाद (Monism)

जब हम संसार के विभिन्न वस्तुओं के मूल स्वरूप के विषय में गंभीरता से विचार करना प्रारंभ करते हैं तो एक सत्य जो झलकने लगता है कि सृष्टि की अनेकता के पीछे सदैव एकता छिपी रहती है। मिट्टी के विभिन्न पात्रों को देखकर हम आसानी से यह अनुमान कर लेते हैं कि इन सब पात्रों के पीछे एक ही द्रव्य अर्थात मिट्टी ही है। विभिन्न मशीनों, उपकरणों को देखकर हम तुरंत समझ जाते हैं कि यह सब एक ही धातु 'लौह' से बने हैं। इसी प्रकार संसार के विभिन्न वस्तुओं के विषय में हम इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि ये वस्तुएं किसी एक मूल द्रव्य के ही परिवर्तित रूप हैं। अनेक विचारक एकतत्ववाद सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं जिसका मूल विचार एक ही है कि समग्र विश्व का मूल तत्व या परम तत्व एक ही है। सृस्टि की विविधताएं इसी एक तत्व की अभिव्यक्ति है या फिर एकता में

अनेकता का भ्रम है। विश्व के समस्त चेतन अचेतन सभी इस मूल तत्व का ही एक रूप है।

8.3.3.1 स्पिनोजा का द्रव्य सिद्धान्त

स्पिनोजा डेकार्ट के द्वैतवाद की आलोचना करके अपने एकतत्ववाद को स्थापित करते हैं। डेकार्ट ने कहा था कि द्रव्य वह है जिसकी स्वतंत्र सत्ता हो, जिसे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर निर्भर नही रहना पड़ता, परंतु साथ ही डेकार्ट ने पुद्गल एवं मनस या चित्त एवं अचित्त दो द्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया, साथ ही परम द्रव्य के रूप में ईश्वर को स्वीकार कर लिया। उनका मानना था कि चित्त और अचित्त सापेक्ष द्रव्य हैं, जबकि ईश्वर निरपेक्ष द्रव्य है। स्पिनोजा डेकार्ट के इन विचारों पर वदतोव्याघात का दोष दिखाते है क्योंकि द्रव्य या तत्व स्वतंत्र होने के कारण सापेक्ष नही हो सकते। द्रव्य को स्वतंत्र मानकर फिर उन्हें सापेक्ष कहना अनुचित है।

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य हो सकता है क्योंकि वह ही एकमात्र निरपेक्ष तत्व है। चित्त एवं अचित्त स्वयं द्रव्य नही अपितु परम द्रव्य ईश्वर के ही दो गुण हैं। ईश्वर सभी गुण का एकमात्र आधार या अधिष्ठान है। संसार की सभी चीज उस पर आश्रित है किंतु वह स्वआश्रित है।

द्रव्य की परिभाषा देते हुए स्पिनोजा कहते हैं "द्रव्य वह है जिसकी स्वतंत्र सत्ता हो। उसके अस्तित्व एवं ज्ञान के लिए किसी दूसरी वस्तु के अस्तित्व या ज्ञान की आवश्यकता न हो अर्थात जो स्वतः ही स्थित है और अपने ही द्वारा समझा जा सकता है जिसे समझने के लिए किसी दूसरे तत्व को समझने की आवश्यकता नहीं है।"

अब यदि द्रव्य पूर्णतया स्वतंत्र सत्ता हो तो यह अनंत सत्ता भी होगी क्योंकि तभी यह स्वतंत्र सत्ता कही जा सकेगी। सीमित सत्ता को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। इसके साथ-साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा की यह सत्ता केवल एक ही है क्योंकि एक से अधिक सत्ता होने पर यह दूसरी सत्ता से सीमित हो जाएगी। यह स्वयं अपना

कारण है या स्वयंभू है। यदि इसकी उत्पत्ति दूसरे तत्व/ सत्ता से मानी जाए तो प्रथमता दो तत्व हो जाएंगे दूसरा द्रव्य स्वतंत्र न होकर दूसरे पर आश्रित हो जाएगा। द्रव्य वैय्यक्तिकता (Individuality) तथा व्यक्तित्व (Personality) से परे है क्योंकि यह दोनों निर्धारण (Determination) के कारण है जबकि स्पिनोजा मानते हैं कि 'प्रत्येक निर्धारण निषेधात्मक होता है' "All determination is negation"

गुण -

स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य (ईश्वर) के अनंत गुण (Attributes) है। गुण क्या है? स्पिनोजा के अनुसार "गुण से मेरा अभिप्राय उस तत्व (विशेषताओं) से है जिसे बुद्धि द्रव्य का मूल स्वरूप समझती है।" इस परिभाषा से दो प्रकार की व्याख्या संभव है। यदि हम 'बुद्धि समझती है' इस अंश पर बल दें तो आत्मनिष्ठ व्याख्या (subjective interpretation) संभव है और यदि 'द्रव्य का मूल स्वरूप' अंश पर बल देते हैं तो इस सिद्धांत की 'वस्तुनिष्ठ व्याख्या (objective interpretation) प्रस्तुत की जा सकती है।

आत्मनिष्ठ व्याख्या के अनुसार गुण वस्तुतः द्रव्य में विद्यमान नहीं है। यह हमारी बुद्धि है जो उन्हें द्रव्य में विद्यमान समझती है। वस्तुनिष्ठ व्याख्या के अनुसार गुण वस्तुतः द्रव्य के स्वरूप हैं। वे हमारे बुद्धि की समझ पर आधारित नहीं है।

अब यदि हम प्रथम व्याख्या को मानें तो हमें ईश्वर या परम द्रव्य को निर्गुण कहना होगा। क्योंकि ईश्वर में जो गुण हमको दिखते हैं वे हमारी बुद्धि के कारण दिखाई देते हैं वह वास्तविक नहीं है।

यदि गुण की दूसरी व्याख्या को स्वीकार किया जाये तो यह मानना होगा की गुण बुद्धि द्वारा द्रव्य पर आरोपित या कल्पित नही है बल्कि द्रव्य के वास्तविक धर्म हैं। हमारी कल्पना शक्ति इनका आविष्कार नहीं कर सकती। इनकी वस्तुनिष्ठ सत्ता है। इस व्याख्या को स्वीकार करने पर ईश्वर सगुण हो जाएगा। गुणों की इन विरोधी व्याख्या के चलते स्पिनोजा का दर्शन अनेक विरोधी नाम से अभिहित किया

जाता है। स्पिनोजा के अनुसार यद्यपि द्रव्य या ईश्वर अनेक गुणों से युक्त है फिर भी इनमें से केवल दो गुण विचार एवं विस्तार मुख्य है। विचार एवं विस्तार दोनों एक ही सार्वभौमिक सत्ता के प्रकाश हैं और दोनों का स्तर समान है।

विकार (Modes)

स्पिनोजा के अनुसार विश्व के समस्त पदार्थ द्रव्य के विकार (Modes) हैं। विकार द्रव्य के गुणों के परिवर्तित रूप (Modification) हैं। विकार वह है जो द्रव्य में स्थित होता है। विकार की धारणा केवल द्रव्य के गुणों के परिवर्तित रूप में ही की जा सकती है। स्वतंत्र रूप में विकार का कोई अस्तित्व नहीं है और न ही इसकी कोई धारणा (Conception) की जा सकती है। विकार वह है जो अन्य वस्तुओं में हो या अन्य वस्तुओं के द्वारा समझा जा सके। विकार की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। इसका संबंध द्रव्य से वैसा ही है जैसा की तरंगों का संबंध समुद्र से है। बिना तरंगों का समुद्र हो सकता है किंतु बिना समुद्र के तरंगे संभव नही हो सकती। विश्व की विशिष्ट वस्तुओं को विकार कहा जा सकता है। विशिष्ट वस्तुएं सीमित हैं और ईश्वर या परम द्रव्य असीमित है।

विचार के पर्याय हैं - बुद्धि एवं संकल्प

विस्तार के पर्याय हैं - गति और स्थिति

ईश्वर व प्रकृति

स्पिनोजा अपने ग्रंथ एथिक्स (Ethics) में कहते हैं कि सब कुछ ईश्वर है और सब कुछ उसी में विद्यमान तथा गतिमान है। केवल निमित्तेश्वरवादियों के विपरीत वह यह मानता है कि ईश्वर संसार से परे न होकर संसार में व्यापक है। संसार ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वह ईश्वर भाव में खोए हुए व्यक्ति थे जो सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर देखते थे। उन्हें सारा संसार ही ईश्वरमय दृष्ट होता था। स्पिनोजा के इस शाश्वत, निरपेक्ष, असीम, अनंत, अविभाज्य, स्वतंत्र सार्वभौमिक द्रव्य को मौलिक भाषा में प्रकृति एवं धार्मिक भाषा में ईश्वर कहते हैं। द्रव्य, प्रकृति

एवं ईश्वर एक ही है। ईश्वर इस जगत में है और जगत ईश्वर में। वही समस्त वस्तुओं का मूल स्रोत है। दोनों एक रूप है। उनमें कारण कार्य का भेद नहीं है। ईश्वर कारण प्रकृति (Natura Naturans) है, साथ ही वह समस्त वस्तुओं का योग 'कार्य प्रकृति' (Natura Naturata) भी है।

स्पिनोजा अद्वैतवादी है। ईश्वर व जगत दोनों यथार्थ है। प्राकृतिक नियम ईश्वर के नियम हैं और उनमें परिवर्तन नहीं किये जा सकते। इस प्रकार वह ईश्वरीय नियतिवाद को मानता है।

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर में मानवों की भांति इच्छा, संकल्प, दया, क्षमा, प्रेम, कृपा आदि कोई गुण नहीं है। वह निर्विकार व निराकार है। उसकी इस मान्यता के कारण यहूदी समाज उससे रुष्ट हो गया और उसे नास्तिक की संज्ञा दी।

वस्तुतः स्पिनोजा ने ईश्वर में मानवीय गुणों का निषेध करके उसे मानवीय सीमाओं तथा दुर्बलताओं से मुक्त रखा जिससे धर्म को अधिक ठोस आधार मिले।

शरीर एवं मन का संबंध

स्पिनोजा मानते हैं की चित्त और अचित्त एक ही परमतत्व 'द्रव्य के दो गुण हैं। यह दोनों परस्पर भिन्न होते हुए भी विरोधी नहीं है। क्योंकि दोनों एक ही प्रकाश की दो किरणों की भांति हैं, रश्मियो की भांति हैं या एक ही धुरी के दो पहिये हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु दैहिक एवं मानसिक दोनों होती है। कोई घटना एक दृष्टिकोण से दैहिक कहलाती है तो दूसरे दृष्टिकोण से मानसिक। शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएं एक दूसरे का कारण नहीं वरन दोनों समानांतर (Parallel) हैं।

नियतत्ववाद (Determinism)

स्पिनोजा के अनुसार संसार की घटनाएं, वस्तुएं, क्रियाएं नियंत्रित रहती हैं। जिस प्रकार गणित के नियमों में निश्चितता व अपरिवर्तनीयता है, उसी प्रकार जगत के सभी घटनाओं में नियंत्रितता (Determinacy) होती है।

स्पिनोजा इच्छा स्वातंत्र्य को न तो मानव में स्वीकार करते हैं न ही ईश्वर में। सभी घटनाएं नियति - नियमों से बद्ध है। ऐसी स्थिति में उसी क्रिया को स्वतंत्र कहा जा सकता है जो किसी वस्तु के स्वयं के स्वरूप से संचालित हो। यदि मनुष्य का व्यवहार उसके आत्मस्फुरित भावना से ही संचालित हो तो इसे स्वतंत्र व्यवहार कहा जाएगा। अतः स्वतंत्र व्यवहार वह है जो स्व + तंत्र अर्थात अपनी प्रकृति के व्यवहार या आत्मनियंत्रितता (Self Determined) व्यवहार को प्रदर्शित करे। आत्मस्फुरित भावना वह है जो मानव से आत्म सत्ता के तत्वों से निर्देशित हो। उसी भावना को आत्म सत्ता के तत्व से निर्धारित होना समझा जाएगा जो स्पष्ट हो और चूँकि स्पष्ट, परिस्पष्ट भावना बुद्धि से ही प्राप्त हो सकती है, इसलिए स्पिनोजा का मानना है की बौद्धिक जीवन ही स्वतंत्र जीवन है। इसी बौद्धिक जीवन को ईश्वरीय बौद्धिक प्रेम (Intellectual Love of God) कहा जाता है। बौद्धिक प्रेम दिखाता है कि सभी घटनाएं एकात्मक सत्ता ईश्वर से ही संचालित होती हैं। जो व्यक्ति वस्तुओं और घटनाओं को ईश्वरीय समझ कर उनके अनुसार स्पष्ट भावना से काम करता है वही स्वतंत्र या मुक्त व्यक्ति है।

इसके विपरीत जब व्यक्ति राग, द्वेष आदि भावों के वश में आकर कोई काम करता है तो वह बाह्य वस्तुओं के प्रभाव में होकर काम कर रहा है और यदि कोई बाह्य कारणों से नियंत्रित हो तो वह अपनी सत्ता के अनुसार काम नहीं करता। ऐसे व्यक्तियों की गति उस तिनके के समान मानी जाती है जो नदी की लहरों में वायु या लहरों आदि के प्रभाव से इधर-उधर बहता रहता है। ऐसे व्यक्ति स्वतंत्र न होकर अपने भावों के दास हैं।

अतः स्वतंत्र वही है जो बाह्य - संचालित न होकर आत्मनियंत्रित है। यदि मनुष्य अपने तत्व से संचालित होना चाहता है तो उसे बुद्धिगम्य भावनाओं या परिस्पष्ट भावनाओं के अनुसार काम करना होगा। यदि हमारे मन में कोई भाव उठे और हम उसे बुद्धि द्वारा समझ लें तो वह भाव, मात्र भाव न रहकर बौद्धिक भावना बन जाता है। भाव को जानने के लिए हमें उस भाव के पीछे के कारण - कार्य श्रृंखला को समझाना पड़ेगा। इसका स्पष्ट तरीका होगा कि किसी घटना को

समस्त विश्व के दृष्टिकोण से समझना आवश्यक है। सार्वभौम दृष्टिकोण से देखने पर हम यह समझ सकते हैं कि सभी घटनाएं ईश्वर से नियंत्रित है। जब हम यह समझ जाते हैं कि सभी घटनाएं ईश्वर की लीला है। तो किसी से ईर्ष्या, द्वेष का कोई सवाल ही नहीं रह जाता,तब भले बुरे का कोई भेद प्रासंगिक नहीं रह जाता। अच्छा तो यही होगा कि हम ईश्वर की पूर्णता में भागी हों।

स्पिनोजा का एकतत्ववाद न भौतिक एकतत्ववाद है न आध्यात्मिक एकतत्ववाद है क्योंकि उनका परमतत्व 'द्रव्य अपने मूल रूप में न आध्यात्मिक है न भौतिक। वह एक तटस्थ सत्ता (Natural Reality) है। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता 'द्रव्य के दो पक्ष मात्र हैं।

8.3.3.2 हेगल का मूर्त एकतत्ववाद (Concrete Monism)

हेगल का मानना है कि एक तत्व एवं अनेक तत्व दोनों सत्य है और दोनों अनुभव के विषय हैं। यह दोनों एक ही परमतत्व के दो पक्ष हैं। जिस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञान की प्रक्रिया में परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक है, वैसे ही सीमित एवं असीमित, सापेक्ष तथा निरपेक्ष आदि भी विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक है। हेगल के अनुसार निरपेक्ष चैतन्य (Absolute consciousness) वह मूर्त सत्ता (Concrete Reality) है जिसमें समस्त विरोधी प्रत्यय का समन्वय हो जाता है। सृष्टि इसी निरपेक्ष चैतन्य या परमतत्व की बाह्य अभिव्यक्ति है। सृष्टि की विकास प्रक्रिया द्वारा परमतत्व अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। परमतत्व विकास के विभिन्न स्तरों के द्वारा धीरे-धीरे स्वचेतना (Self consciousness) प्राप्त कर लेता है। परमतत्व प्रकृति (Nature) में स्वयं की अभिव्यक्तियों के द्वारा विकसित होता है एवं स्वचेतन को प्राप्त करता है। यह ठीक उसी प्रकार से होता है जैसे मनस अपनी ही विचार प्रक्रियाओं एवं अनुभूतियों के माध्यम से समृद्ध (Enriched) होता है और अधिकाधिक स्वचेतना को प्राप्त होता है।

हेगल के अनुसार परमतत्व जहां एक ओर अनेक तत्व की सृष्टि करता है वहीं साथ ही अनेक तत्व में इस प्रकार संबध स्थापित करता है कि सभी भेद या भिन्नताएं समन्वित हो जाती हैं।

इस प्रकार एकतत्ववाद के उपर्युक्त विवेचन में हम पाते हैं कि स्पिनोजा का एकतत्वबाद अपने तटस्थ रूप में प्राप्त होता है जबकि हेगल के दर्शन में आध्यात्मिक रूप में।

इन दोनों रूपों के अतिरिक्त एकतत्ववाद के अन्य स्वरूप भी हैं। जैसे - प्रकृतिवाद भी एकतत्ववाद को मानता है जिसमें प्रकृति को ही एकमात्र सत्ता माना जाता है। इसी प्रकार जड़तत्ववाद के अनुसार संपूर्ण विश्व के चर-अचर पदार्थ एक ही जड़ तत्व से उद्भूत हुए हैं। वर्तमान समय में वैज्ञानिकों ने विश्व का मूल आधार (ऊर्जा) को मना है। उनके अनुसार संसार की सभी वस्तुएं एवं चेतन प्राणी इसी मूल ऊर्जा के परिवर्तित रूप मात्र है। इस प्रकार के भौतिकवादी भी एकतत्ववादी ही कहलाएंगे।

8.3.3.3 समीक्षा : एकतत्ववाद की समीक्षा

1) स्पिनोजा के एकतत्ववाद में यह दिखाया गया है कि परमतत्व, द्रव्य या ईश्वर विश्वव्यापी सत्ता है। इस सिद्धांत में विश्व में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या संभव नहीं है क्योंकि ईश्वर को विश्वव्यापक मानने पर ईश्वर एवं संसार में तदाम्यता स्वीकार करना पड़ता है। तब संसार की परिवर्तनशीलता ईश्वर की परिवर्तनशीलता माननी होगी। अब यदि ईश्वर को परिवर्तनशील मान लिया जाए तो ईश्वर, ईश्वर कैसे रहेगा? क्योंकि ईश्वर की परिभाषा दी गई है -

“त्रिकालाबाधित अपरिवर्तनीय सत्ता”अतः ईश्वर को परिवर्तनशील एवं विकारी मानना ईश्वर के ईश्वरत्व को ही खत्म कर देता है।

2) हीगल के एकतत्ववाद में भी जगत की परिवर्तनशीलता की व्याख्या की कठिनाई उत्पन्न होती है। हीगल सृष्टि प्रक्रिया को परमतत्व (Absolute) या निरपेक्ष

चैतन्य की बाह्य अभिव्यक्ति कहते हैं। यह बाह्य अभिव्यक्ति परिवर्तनों व विविधताओं से युक्त है। चूँकि सृष्टि ईश्वर की वास्तविक अभिव्यक्ति है। अतः सृष्टि के परिवर्तन ईश्वर के वास्तविक परिवर्तन है। इस प्रकार इस सिद्धांत में भी ईश्वर की परिवर्तनशीलता सिद्ध होती है। अब यदि ईश्वर परिवर्तनशील या विकारयुक्त सिद्ध हो जाए तो क्या उसे निरपेक्ष या परम सत्ता कहा जा सकता है? नहीं।

3) हीगल के दर्शन पर एक आपत्ति यह भी है कि एक ओर तो वह परमतत्व को निरपेक्ष सत्ता मानते हैं और दूसरी और यह भी मानते हैं कि यह परमतत्व या ईश्वर सृष्टि की विकास प्रक्रिया के माध्यम से स्वचेतना को प्राप्त करता है या आत्म साक्षात्कार करता है। इसका तो यह अर्थ निकलता है कि ईश्वर को अपने स्वरूप के वास्तविक अनुभूति के लिए सृष्टि रचना की अपेक्षा है और इस प्रकार की अपेक्षा की आवश्यकता ईश्वर को निरपेक्ष तत्व नहीं रह जाने देता।

4) आलोचकों का आक्षेप है कि एकतत्ववादी दर्शन में नैतिकता की कोई संभावना नहीं रह जाती क्योंकि सभी चर - अचर पदार्थ एक ही परम तत्व के प्रकाश या अभिव्यक्ति हैं, इन पदार्थों की जब कोई अपनी स्वतंत्रता ही नहीं है, कोई वैय्यक्तिकता (Individuality) ही नहीं है तो नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठाता।

परंतु ध्यान से देखने पर हम पाते हैं कि स्पिनोजा के अनुसार प्राणी में इच्छा स्वातंत्र्य (Freedom of Will) होती है और जहां इच्छा स्वातंत्र्य है, वहां नैतिकता एवं नैतिक मूल्यों की सार्थकता स्पष्ट है।

8.4 सारांश

विश्व की विविधता को देखकर कुछ दार्शनिक मानते हैं कि यह वृहद, व्यापक विश्व 'अनेक'मूल तत्वों से मिलकर बना है। यदि हम चेतन व अचेतन इन दो सत्ताओं के वर्गीकरण पर ध्यान दे तो हमें यह मानना पड़ेगा कि संसार मूलतः इन 'दो तत्वों की ही रचना है। इसके अतिरिक्त यदि हम इस विविधता से भरे संसार पर बारीकी से चिंतन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि संसार की अनेकों वस्तुएं कहीं ना कहीं एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा

सकता है कि जगत की अनेकता के पीछे 'एकता ही मूल कारण है अर्थात चित्त व अचित्त सभी एक ही तत्व के अलग-अलग रूप है।

8.5 बोध प्रश्न

1 एकतत्ववाद की विवेचना कीजिए।

2 द्वितत्ववाद की विवेचना कीजिए।

3 बहुतत्ववाद की विवेचना कीजिए।

4 तत्वमिमांसा के विभिन्न मतों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

8.6 उपयोगी पुस्तके एवं संदर्भ ग्रंथ

1. पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।

2. पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3. पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5. पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

MAPH 102 (N)

खण्ड 3

इकाई : 9 मन और शरीर संबंध की समस्या

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 मन और शरीर संबंध

9.3 अंतर्क्रियावाद

9.3.1 समीक्षा

9.4 यथावसरवाद

9.4.1 समीक्षा

9.5 समानांतरवाद

9.5.1 माइंड स्टफ सिद्धांत

9.5.2 द्विस्वरूप सिद्धान्त

9.5.3 तटस्थ एकतत्ववाद

9.5.4 समांनांतरवाद की समीक्षा

9.6 पूर्वस्थापित सामंजस्य का सिद्धांत

9.6.1 समीक्षा

9.7 अध्यात्मवाद /मनसवाद

9.7.1 समीक्षा

9.8 नव्योत्क्रान्तिवाद

9.8.1 समीक्षा

9.9 उपोत्पादनवाद

9.9.1 समीक्षा

9.10 सारांश

9.11 बोध प्रश्न

9.12 उपयोगी पुस्तकें

----------000----------

9.0 उद्देश्य

आधुनिक यूरोपीय दर्शन के समक्ष आत्म और शरीर के बीच संबंध को समझने की समस्या महत्वपूर्ण रही है। अपनी तत्व मिमांसा के प्रतिपादन को न्यायसंगत दिखाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम चित्त एवं अचित्त के स्वरूप को एवं उनके बीच क्या कोई संबंध हो सकता है या वह संबंध कैसा है? इन स्वाभाविक से प्रश्नों का समाधान देते हुए आगे बढें।

डेकार्ट के 'द्वैतवाद' को मन - शरीर संबंध को समझने के लिए 'अधिकृत सिद्धांत' (Official Theory) के रूप में स्वीकार किया गया है। आगे हम स्पिनोजा, लाइब्नीन्ज एवं साथ ही कुछ अन्य दार्शनिकों के सिद्धांतों को समझने का प्रयास करेंगे और देखेंगे कि यह सिद्धांत कहां तक युक्त संगत हैं।

प्रस्तावना 9.1 -

शरीर एवं मन की क्रियाओं के बीच गहन संबंध है। प्रायः हम पाते हैं कि जितनी भी शारीरिक क्रियाएं हम करते हैं उसके पीछे कहीं न कहीं हमारी इच्छाएं एवं संकल्प उत्तरदायी होते हैं जो कि अपरोक्ष या परोक्ष रूप में शारीरिक क्रियाओं को संचालित करते हैं या नियंत्रित करते हैं।

दुःख, सुख, घृणा, प्रेम, स्नेह, क्रोध, लोभ आदि भाव या उद्वेग मनुष्य के संवहनीय तंत्र को प्रभावित करते हैं, शारीरिक संरचना के अंदरूनी क्रियाओं को और हार्मोन इत्यादि को प्रभावित कर देते हैं। निराशा व अवसाद, अनेक शारीरिक

समस्याओं को उभार कर शारीरिक दक्षता को कम करके मानव व्यक्तित्व को जर्जर या भंगुर बना देते हैं। मानसिक या भावनात्मक आघात मनुष्य को शारीरिक रूप से अक्षम कर देने या नकारात्मक रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं।

वहीं दूसरी ओर शरीर स्वस्थ एवं निरोग है तो हमारा मस्तिष्क दक्षता से एवं प्रखर होकर अपनी क्रियाओं को संपन्न करता है। शरीर थका हुआ या बीमार हो तो मस्तिष्क की दक्षता कुप्रभावित हो जाती है।

9.2 मन और शरीर संबंध -

शरीर एवं मन के इस संबंध को समझने एवं इनके पारस्परिक प्रभावों को समझने के क्रम में विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न सिद्धांतों को प्रतिपादित किया है।

9.3 अंतर्क्रियावाद (Interactionism) -

फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्ट द्वैतवादी विचारक थे जिनके अनुसार अचित्त (Matter) एवं चित्त दो विपरीत धर्मों वाले मूल तत्व हैं। अचित्त विस्तारवान एवं अचेतन तत्व है जबकि मन या चित्त अविस्तृत एवं चेतन तत्व हैं।

चित्त या मनस सोद्देश्य कार्य करता है जबकि अचित्त यंत्रवत कार्य करता है। इस प्रकार दोनों भिन्न प्रकृति के हैं अब इन दोनों भिन्न प्रकार के तत्वों में संबंध को कैसे समझा जा सकता है? यह डेकार्ट के लिए चुनौती थी। डेकार्ट इसका समाधान देते हुए बताते हैं कि चित्त एवं शरीर या चित्त एवं अचित्त में संबंध मस्तिष्क के बीच स्थित पीनियल ग्रंथि के द्वारा स्थापित होता है। पीनियल ग्रंथि मनस या चित्त का आधार है जिसके द्वारा चित्त एवं शरीर एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं। डेकार्ट के अनुसार शरीर मन पर संवेदनाओं (sensations) के रूप में कार्य करता है जबकि मन शरीर पर संकल्पों (volitions) के रूप में कार्य करता है। शरीर एवं मन के इस अंतर्क्रिया (Inter-action) को अंतर्क्रियावाद (Interactionism) कहा जाता है।

9.3.1 समीक्षा

इस सिद्धांत की आलोचना में सर्वप्रमुख यह है कि अचित्त और मनस विरुद्धधर्मी द्रव्य है तो इनमें परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया कैसे संभव है? क्योंकि क्रिया प्रतिक्रिया के लिए गुणात्मक सादृश्य होना जरूरी हो जाता है जबकि चित्त एवं शरीर परस्पर भिन्न गुणों वाले द्रव्य है। दूसरी समस्या यह है कि चित्त एक अविस्तृत एवं निराकार तत्व है, वह शरीर (जो कि भौतिक तत्व है) के किसी विशेष बिंदु या स्थल पर कैसे (स्थित) हो सकता है। डेकार्ट के उपरोक्त तर्क पर आपत्ति जताते हुए कहा गया कि यदि आत्मा और शरीर की मिलनशय्या पिनियल ग्रंथि शारीरिक है तो इसे विस्तार युक्त मानना पड़ेगा ऐसे में वह विस्तार रहित आत्मा का मिलन केंद्र कैसे माना जा सकता है?

गिलबर्ट राइल ने डेकार्ट के इस द्वैतवाद का खण्डन करते हुए इसे व्यंग्यात्मक शैली में 'मशीन में प्रेत' सिद्धांत कहा है। रॉइल इसके पीछे 'कोटि दोष' को वजह मानते हैं।

भौतिक घटनाएं यांत्रिक कारणों द्वारा संचालित होती है परंतु मानसिक घटनाएं कारण द्वारा नहीं अपितु प्रयोजन द्वारा संचालित होती हैं अतः भौतिक एवं मानसिक घटनाओं की व्याख्या के लिए एक ही प्रकार की कारणता का प्रयोग करना कोटि दोष है । शरीर जो कि भौतिक तत्व है में अभौतिक तत्व आत्मा को मानना कोटि दोष है। मशीन के अंदर बंद 'प्रेत' (आत्मा) मशीन के बाहर की दुनिया को कैसे जान पाता है। इस तरह के प्रश्नों का उत्तर डेकार्ट अपने सिद्धांत के माध्यम से नहीं दे पाते हैं।

तीसरी समस्या यह है कि क्रिया - प्रतिक्रिया का यह सिद्धांत 'शक्ति संरक्षण के नियम' के विपरीत है। क्रिया - प्रतिक्रियावाद के अनुसार शरीर की संवेदन शक्ति ही मानसिक शक्ति के रूप में परिवर्तित होती है और चित्त की संकल्प शक्ति या

मानसिक शक्ति ही शरीर संचालन की भौतिक शक्ति के रूप में परिवर्तित होती है। इस प्रकार पहली स्थिति में भौतिक शक्ति का क्षय होता है और दूसरी स्थिति में भौतिक शक्ति में वृद्धि होती है। 'शक्ति संरक्षण नियम' यदि सत्य है तो हमे मानना होगा कि एक प्रकार की भौतिक शक्ति दूसरे प्रकार की भौतिक शक्ति में बदल सकती है किंतु विश्व में 'भौतिक शक्ति' का कुल परिमाण एक ही रहेगा। परंतु यदि भौतिक शक्ति को मानसिक शक्ति के रूप में परिवर्तित माना जाए और मानसिक शक्ति को भौतिक शक्ति के रूप में परिवर्तित माना जाए तो उस स्थिति में भौतिक शक्ति का कुल परिमाण न्यून या अधिक होगा होता रहेगा जो शक्ति संरक्षण के नियम के विपरीत है या असंगत है।

9.4 यथावसरवाद (Occasionalism) -

डेकार्ट के अनुयायी ग्युलिनैक्स (Geulinex) एवं मेलब्रान्स (Malebranche) ने अंतर्क्रियावाद की कमियों को दूर करने के प्रयास में यथावसरवाद का प्रतिपादन किया। यथावसरवाद के अनुसार शरीर एवं मन विपरीतधर्मी होने के कारण परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया नहीं कर सकते तथापि दोनों में एक तरह की संवादिता (correspondence) है जिसका कारण" ईश्वर "है। शरीर या मन में किसी एक में परिवर्तन होने पर ईश्वर उसी प्रकार का परिवर्तन दूसरे में भी उपस्थित कर देता है। शरीर में जैसे ही कोई परिवर्तन होता है तो उसी के अनुरूप ईश्वर मनस में संवेदना पैदा कर देते हैं। इसी प्रकार जब मनस में कोई संकल्प या इच्छा उत्पन्न होती है तब उसी के संवाद में ईश्वर शरीर को गत्यात्मक कर देते हैं।

9.4.1 समीक्षा

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शरीर एवं मनस के संबंध का यह सिद्धांत अनुपयुक्त है। शरीर एवं मन में पल-पल होने वाली क्रिया प्रतिक्रिया या पारस्परिक परिवर्तनों के लिए ईश्वर को उत्तरदायी या जिम्मेदार कारण बता देना युक्ति संगत नहीं लगता क्योंकि ऐसा होने पर ईश्वर एक यंत्र की भांति हो जाएगा।

9.5 समानांतरवाद (Parallelism) -

बुद्धिवादी स्पिनोजा ने शरीर एवं मनस को मूलतः भिन्न तत्व मानते हुए उनमें अंतर्क्रिया होना असंभव माना और समानांतरवाद का प्रतिपादन किया। समानांतरवाद के अनुसार शरीर तथा मन दो भिन्न स्वतंत्र तत्व/द्रव्य नहीं हैं बल्कि द्रव्य (substance) केवल एक है और वह है ईश्वर। चित्त एवं अचित्त परम द्रव्य ईश्वर के दो समानांतर गुण (attributes) हैं। चित्त एवं अचित्त को ईश्वर के अभ्यांतर एवं बाह्य पक्ष के रूप में समझा जा सकता है। ईश्वर को (या द्रव्य को) भौतिक या मनसिक नहीं माना जा सकता। परंतु भौतिक एवं मानसिक घटनाओं में यह समानांतर रूप से प्रतीत होता है। अचित् की विशेषता है विस्तार या प्रसार और चित्त की विशेषता है विचार।

संसार में विस्तार (प्रसार) की हर एक इकाई के समानांतर विचार की भी इकाई है। इसी प्रकार हर विचार की इकाई के समानांतर विस्तार की इकाई है। शरीर के हर परिवर्तन के अनुरूप मनस में परिवर्तन होता है और मनस के हर एक परिवर्तन के अनुरुप शरीर में परिवर्तन होता है। इस प्रकार दोनों में अनुरूपता या संवादिता का संबंध है। स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य तो एक ही है जो कभी चिंतनशील द्रव्य तो कभी प्रसारित (विस्तारित) द्रव्य के रूप में संबोधित किया जाता है। यह अलग-अलग द्रव्य न होकर एक ही मूल द्रव्य (ईश्वर) के दो गुण हैं।

स्पिनोजा के समानांतरवाद का अमेरिकन हर्बर्ट स्पेंसर ने समर्थन किया है परंतु उनका मानना है कि भौतिक एवं मानसिक घटनाओं में प्रतीत होने वाला परम द्रव्य या 'मूल द्रव्य' 'अज्ञेय' है। परमद्रव्य न मानसिक है न भौतिक किंतु वह अचित्त एवं मन के माध्यम से व्यक्त होता है।

9.5.1 माइंड स्टफ सिद्धांत (Mind stuff Theory) -

क्लिफोर्ड (Clifford) नामक विचारक माइंड स्टफ सिद्धांत (Mind Stuff Theory) प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि शरीर या अचित् तत्व (Matter Stuff) के प्रत्येक

परमाणु के अनुरूप एवं उससे संबद्ध चित्त तत्व (मनस तत्व) का परमाणु होता है। जब भौतिक (अचित्त) परमाणु से मिलकर शरीर की रचना होती है तो साथ ही साथ उन भौतिक परमाणुओं के अनुरूप चित्त तत्व (मनस तत्व) के परमाणु से मिलकर चित्त या मनस की संरचना होती है। इसी कारण से मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं में संबद्धता पाई जाती है।

9.5.2 द्विस्वरूप सिद्धान्त Double aspect Theory) -

वारेन् (Warren) नामक विचारक के अनुसार मानसिक क्रियाएं एवं स्नायुविक प्रक्रियाएं ये दोनों मिलकर घटनाओं का एक क्रम बनाती हैं। यह दोनों एक ही वस्तु के दो स्वरूप हैं। मानसिक क्रियाएं आंतरिक होती हैं तो वहीं स्नायुविक क्रियाएं बाह्य रूप कही जा सकती हैं ।

9.5.3 तटस्थ एकतत्ववाद (Neutral Monism) -

शरीर - मन संबंध को समझने के लिए नव्य -वस्तुस्वतंत्रवादी दार्शनिक तटस्थ एकतत्ववाद का सहारा लेते हैं इसके अनुसार अलग-अलग संदर्भों एवं संबंधों में एक ही तटस्थ तत्व भौतिक एवं मानसिक रूप में दृष्ट होता है वस्तुतः यह तत्व न तो भौतिक है न ही मानसिक।

9.5.4 स्पिनोजा के समांनांतरवाद की समीक्षा

यदि समानान्तरवाद को स्वीकार किया जाए तो इसमें हम सर्वचित्तवाद पर पहुंच जाते हैं जो आधुनिक विज्ञान के विपरीत है। स्पिनोजा के इस सिद्धांत से यह निष्कर्ष निकलता है कि जहां विस्तार है वहां विचार भी है और जहां विचार है वहां विस्तार भी है परंतु विज्ञान यह बताता है कि चेतन अत्यंत जटिल स्नायुमंडल से संबंधित है न कि अचित्य या जड़ (पुद्गल) से

समानांतरवाद मनस या चित्त को अधिक महत्व नहीं देता परंतु मनस को शरीर के समान या समानांतर नहीं माना जा सकता। मनस शरीर की अपेक्षा श्रेष्ठ है एवं

उच्चतर है क्योंकि शरीर का संचालन या नियंत्रण मनस के द्वारा ही होता है। मनस स्वतंत्र है और इसमें किसी भी कार्य को शुरू या कोई पहल करने की क्षमता होती है। मनस और शरीर की प्रकृति में अंतर होता है। चेतना में जहाँ एकता, तादात्म्यता (Identity) एवं अक्षुण्णता (continuity) है वहीं इसके विपरीत अचित्त में विभाजनशीलता होती है इन परस्पर विरोधी गुणों के कारण दोनों में समानांतरता की बात उचित नही लगती।

प्रत्ययवाद एवं जड़वाद दोनों विरोधी सिद्धांतों पर विचार करें तो हम पाते हैं कि प्रत्ययवाद 'अचित्' को भी चेतन मानने का झुकाव रखता है। वहीं जड़वाद 'चित्त' को भी जड़ स्वीकार करने की तरफ झुकाव रखता है। समानांतरवाद दोनों को समुचित महत्व देता है। किसी एक को स्वतंत्र तत्व न मानकर इन दोनों को परम द्रव्य 'ईश्वर' के गुण (Attributes) मानता है। अतः इसको स्वीकार करने पर मनस एवं शरीर की क्रियाओं में अंतर्क्रिया या संवाद स्थापित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

9.6 पूर्वस्थापित सामंजस्य का सिद्धांत (Pre Established Harmony) -

लाइब्नीत्ज जो कि एक जर्मन दार्शनिक थे उनका मानना था कि सृष्टि के प्रारंभ में ही ईश्वर ने मनस एवं शरीर में इस प्रकार का सामंजस्य स्थापित कर दिया है कि ये दोनों सदा एक दूसरे के अनुरूप कार्य करते हैं। जिसके लिए ईश्वर को बार-बार हस्तक्षेप नही करना पड़ता। लाइब्नीत्ज के अनुसार मनस एवं शरीर परस्पर स्वतंत्र हैं और इनमें क्रिया प्रतिक्रिया नहीं होती लेकिन इनमें ईश्वर द्वारा पूर्व स्थापित संवादिता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है कि कोई घड़ीसाज दो घड़ियों का निर्माण करता है, उसी दौरान वह दोनों में एक ही समय निर्धारित कर देता है। कालांतर में बिना घड़ीसाज के निरंतर हस्तक्षेप किये और बिना एक दूसरे को प्रभावित किये दोनों घड़ियाँ एक ही समय बताती रहती हैं।

9.6.1 समीक्षा

पूर्व स्थापित सामंजस्य सिद्धांत में भी यथावसरवाद जैसा दोष है। यथावसरवार शरीरिक एवं मानसिक घटनाओं में संवादिता हेतु निरंतर ईश्वर- हस्तक्षेप की बात स्वीकर करता है। इस प्रकार वह इस संबंध में निरंतर अतिप्राकृतिक घटना (Miracle) के घटित होते रहने का प्रतिपादन करता है तो वहीं लाइब्नीत्ज पूर्व स्थापित सामंजस्य सिद्धांत में केवल एक बार अतिप्राकृतिक घटना (miracle) होने का प्रतिपादन करता है अर्थात सृष्टि के प्रारंभ में ही ईश्वर मनस और शरीर में सामंजस्य स्थापित कर देता है।

एक अन्य समस्या इस सिद्धांत के साथ यह है कि शरीर एवं मन दोनों चेतन अणुओं से बने हैं (जैसा कि लाइब्नीत्ज मानते है) और ये दोनों परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया नहीं कर सकते। इन चिदणुओं का भी चिदणु ईश्वर है तो अब इन चिदणुओं अर्थात शरीर एवं मन पर परस्पर ईश्वर कैसे क्रिया कर सकता है? और उनमें सामंजस्य स्थापित होना कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि कारणता एक बाह्य कारक है और लाइब्नीत्ज की व्याख्या में यह चिदणुओं पर लागू नहीं होगी तो चिदणुओं के चिदणु पर यह कैसे लागू हो सकती है?

9.7 अध्यात्मवाद /मनसवाद: (Idealism/ Mentalism) -

अध्यात्मवादी दृष्टिकोण भौतिकवादी दृष्टिकोण के विपरीत है। अध्यात्मवादी का मानना है कि विश्व की मूल सत्ता केवल आत्मा या मनस है। समस्त जड़ जगत यहां तक कि हमारा शरीर भी इसी आत्मा या मनस की अभिव्यक्ति है या इस आत्मा में ही कल्पित आभास है। अतः आत्मा या मनस की मूल सत्ता होने से शारीरिक क्रियाओं पर स्वतः ही इसकी प्रभावशीलता आ जाती है।

9.7.1 समीक्षा

आलोचकों के अनुसार भौतिकवादी विचारक जिस प्रकार से मन को भी जड़ मानकर शरीर एवं मनस संबंध की समस्या को नहीं सुलझा पाते वैसे ही अध्यात्मवादी-दार्शनिक शरीर को मन की अभिव्यक्ति बता कर इस समस्या को बिना सुलझाए ही

छोड़ देते हैं। शरीर एवं मनस दोनों को ही स्वतंत्र सत्ताएं मानना पड़ेगा। ज्ञान की प्राप्ति के लिए या उद्‌भव के लिए ज्ञेय (पुद्‌गल) एवं ज्ञाता (मन) दोनों ही आवश्यक हैं। यदि हम इनमें से किसी एक को भी स्वतंत्र सत्ता न मानें तो ज्ञान या अनुभव की संमुचित व्याख्या नहीं की जा सकती।

9.8 नव्योत्क्रान्तिवाद (Emergent Theory) -

इस सिद्‌धांत के प्रतिपादक लॉयड मॉर्गन के अनुसार सत्ता के तीन स्तर हैं - पुद्‌गल, जीवन और मनस।

सृष्टि के आरंभ में प्रकृति में कोई संगठन नहीं था। सर्वप्रथम परमाणुओं का संगठन हुआ व पुद्‌गल का विकास हुआ। इसके बाद पुद्‌गल के संगठन से जीवन का आविर्भाव हुआ तत्पश्चात जब कोशिकाओं (cells) का स्नायुमंडल में संगठन हो गया तब जीवन में मनस का विकास हुआ। पुद्‌गल की अपेक्षा जीवन उच्चतर तत्व है और जीवन की अपेक्षा मनस उच्चतर है। पुद्‌गल के नियमों की तुलना में जीवन के नियमन के नियम उच्चतर हैं और जीवन के नियमों की तुलना में मनस के नियमन के नियम उच्चतर हैं। नव्योत्क्रान्तिवाद के अनुसार शरीर और मनस दोनों का एक ही स्तर नहीं है। शरीर की पूर्णता वस्तुतः मनस है। मनस को एक ऐसा पदार्थ कहा जा सकता है जिसे शरीर प्राप्त करता है या शरीर के द्‌वारा प्रकृति प्राप्त करती है। मनस, चेतन स्वनियंत्रित व उद्‌देश्यात्मक होता है जबकि शरीर अचेतन, परनियंत्रित व निरुद्‌देश्य होता है। मनस शरीर को नियंत्रित करता है, शारीरिक क्रियाओं का संचालन करता है।

9.8.1 समीक्षा

नव्योत्क्रान्तिवाद शरीर एवं मन के संबंध की समस्या का एक अच्छा समाधान उपस्थित करता है किंतु इस सिद्‌धांत की कठिनाई यह है कि यदि पुद्‌गल पहले से ही जीवन रहित था तो पुद्‌गल से जीवन का प्रादुर्भाव हो कैसे सकता है? ठीक इसी प्रकार जब जीवन में मनस पहले से विद्‌यमान नहीं था तब जीवन से मनस का

विकास कैसे होता है? असत से या शून्य से किसी भी प्रकार की सत्ता कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती ।

9.9 उपोत्पादनवाद (Epiphenomenalism) -

यह सिद्धांत मानता है कि चैतन्य या मनस मस्तिष्कीय क्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली आनुषंगिक उत्पाद (By Product) है। प्रायः उपोत्पादनवाद जैसे अन्य भौतिकवादी दार्शनिक भी ऐसे ही विचार को स्वीकार करते हैं । जैसे किसी यंत्र के पुर्जे के आपसी घर्षण से अग्नि की चिंगारियां उत्पन्न हो जाती हैं उसी प्रकार मस्तिष्क के परमाणुओं के पारस्परिक संघर्ष से कुछ प्रकाश किरणें उत्पन्न होती हैं जिन्हें चेतना या मनस कहा जाता है। परंतु ये विचारक मनस के शरीर पर प्रभाव को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार मनस शरीर की क्रियाओं को प्रभावित नहीं करता।

9.9.1 समीक्षा

इस सिद्धांत की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह हमारे सामान्य अनुभव के विपरीत बातें करता है। हम प्रतिदिन के अनुभवों में हमारे जीवन, हमारे शरीर पर मनस की प्रभावशीलता का अनुभव करते हैं। हम अपने अनुभवों में यह पाते हैं कि मनस शरीर पर नियंत्रण करता है। मनस शारीरिक क्रियाओं का संचालन एवं निर्देशन करता है। शरीर की तुलना में मनस उच्चतर स्तर का प्रतीत होता है। अतः मनस को शरीर का उपोत्पाद या आनुषंगिक उत्पाद मात्र मानना उचित नहीं है।

9.10 सारांश

पाश्चात्य दर्शन में आत्मा व शरीर के बीच संबंध की व्याख्या डेकार्ट के द्वैतवाद की प्रमुख समस्या रही। विभिन्न दार्शनिकों द्वारा इसके समाधान दिये गये परंतु वे सिद्धांत उन दार्शनिकों की ज्ञानमीमांसा के ही प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। स्पिनोजा का

समाधान उनके ज्ञानमीमांसा के अनुकूल प्रतीत होता है। स्पिनोजा ने चित्त एवं शरीर को एक ही द्रव्य के दो गुण मानकर इनमें समन्वय दिखाने का प्रयास किया है।

यदि हम दो तत्वों को स्वतंत्र माने तो हम तर्कतः गलत हो सकते हैं क्योंकि एक की स्वतंत्रता को दूसरा सीमित कर देता है और इस प्रकार दोनों ही स्वतंत्र नहीं कहे जा सकते। वहीं यदि हम एक ही द्रव्य को स्वतंत्र माने तो उसके अनेकों गुण माने जा सकते हैं और यहां कोई तार्किक विसंगति नही प्रतीत होती। एक द्रव्य अनेक गुणों से युक्त हो सकता है और हम अपने दैनिक अनुभव में किसी द्रव्य के विभिन्न गुणों में समन्वय में देखते हैं।

परंतु उनके समानांतरवाद में कमियां है। चेतना अत्यंत जटिल स्नायुमंडल में पाई जाती है न की जड़ में। यदि अचित्त और चित्त दो समानांतर धाराएं हैं और अचेतन के समानांतर ही अगर चैतन्य भी पाया जाता है तो पेन, लोहे के टुकड़े, पत्थर इत्यादि में भी इनके समानांतर चैतन्य होता ! जो की सत्य नहीं है।

9.11 बोध प्रश्न

1. मन - शरीर संबंध की समस्या क्या है? प्रकाश डालें।
2. मन - शरीर संबंध की समस्या से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों की समीक्षात्मक विवेचना कीजिए।

अति लघु /लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मशीन में स्थित प्रेत सिद्धांत क्या है?

9.12 उपयोगी पुस्तकें

1. पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।
2. पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3. पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।
4. पश्चात दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
5. पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

----------00000----------

ईकाई 10 : ज्ञान की उत्पत्ति और सीमा

ईकाई की रुपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 पृष्ठभूमि

1.4 बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान

1.5 अनुभववादियों के अनुसार ज्ञान

1.6 आलोचनावाद (काण्ट)

1.7 ज्ञान की सीमा

1.8 सारांश

1.9 संभावित प्रश्न

प्रस्तुत ईकाई में हमारा उद्देश्य आपको ज्ञान की उत्पत्ति के पक्ष से अवगत करने के साथ ही ज्ञान प्राप्ति हेतु बुद्धिवादी , अनुभववादी तथा काण्ट के आलोचनावाद को समझाते हुए, ज्ञान की सीमाओं से भी अवगत करना है।

1.2 प्रस्तावना

ज्ञान का संबंध विषय (object) और विषयों (Subject) दोनों से है। सामान्यतः दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान का स्वरूप इन्द्रियानुभविक (Empirical) होने के साथ - साथ अतीन्द्रिय (Transcendental) भी होता है। ज्ञान का आनुभविक पक्ष वस्तुनिष्ठ और अतीन्द्रिय पक्ष आत्मनिष्ठ (Subjective) होता है। इस प्रकार जहाँ एक ओर ज्ञान की समस्या आनुभविक पहलू से संबंधित है वहीं दूसरी ओर अतीन्द्रिय पक्ष को भी स्पर्श करती है। इसके अतरिक्त आत्मा अथवा अहं प्रत्येक ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा (presupposition) है। यहां आत्मा का अर्थ मनोवैज्ञानिक जीवा ता है। ज्ञाता के बिना किसी विषय का ज्ञान संभव नहीं है। यहीं कारण है , कि संशजवादियों को छोड़कर सभी ज्ञानमीमांसको ने निर्विवाद रूप से ज्ञाता की सत्ता को स्वीकार किया है।

1.3 पृष्ठभूमि

पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान के अनेक साधनों का उल्लेख किया गया है। डेकार्ट के अनुसार, 'तथ्यों के संज्ञान के लिए दो तत्वों अर्थात ज्ञाता और ज्ञेय पर विचार करना आवश्यक है। हमारी आत्मा में ऐसे चार संकाय हैं जिसका उपयोग हम इस प्रयोजन के लिए कर सकते हैं - बुद्धि, कल्पना, ज्ञानेन्द्रियों और स्मृति' । किंतु इनमें से किसे ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ स्त्रोत माना जाय, इस विषय में ज्ञानमीमांसक एकमत नहीं है।

1.4 बुद्धिवादियो के अनुसार ज्ञान

ज्ञान के प्रमुख स्त्रोत के रूप में इंद्रियानुभव , तर्कबुद्धि और अंतः प्रज्ञा को स्वीकार किया गया है। कुछ दार्शनिक बुद्धि को प्राथमिक और अनुभव को गौण महत्व देते हैं। वह दार्शनिक विचारधारा जिसके अनुसार दार्शनिक ज्ञान अथवा प्रभा का अंतिम स्त्रोत बुद्धि है, बुद्धिवाद के नाम से जानी जाती है। बुद्धिवादियो के अनुसार हमारे ज्ञान की सार्वभौमिकता और अनिवार्यता का आधार बुद्ध है। प्लेटो के अनुसार ज्ञान का सर्वोत्तम साधन विशुद्ध रूप से बौद्धिक रूप से बौद्धिक अन्तर्दृष्टि है।

प्लेटो और डेकार्ट दोनों ऐसे बुद्धिवादी दार्शनिक है , जिनके अनुसार वास्तविक ज्ञान विशुद्ध रूप से एक बौद्धिक क्रिया है। बौद्धिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही अनुभव की सार्थक भूमिका का मूल्यांकन किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है, कि बुद्धिवादी यह नहीं कहता है , कि इन्द्रियानुभव की ज्ञान- प्राप्ति में कोई भूमिका नहीं है। श्रोत से सून कर, घाण से संघू करके , चक्षु से देख करके इत्यादि , हम बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करते हैं। किंतु यह केवल विशिष्ट वस्तुओं के स्थान रूप का सतही ज्ञान है। इसे दार्शनिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। स्पिनोजा के अनुसार इन्द्रियानुभव से उत्पन्न ज्ञान कल्पनात्मक ज्ञान है।

आधुनिक बुद्धिवादियों ने गणित को ज्ञान का आ दर्श स्वीकार किया। उनकी प्रणाली निगमनात्मक है। वे आगमन को निगमन की अपेक्षा गौ ण स्थान देते हैं। उनके अनुसार आगमन निगमन पर आधारित है। निगमन के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष अनिवार्य होता है। इस स्पष्ट , विवेकपूर्ण और अनिवार्य ज्ञान का उपयुक्त उदाहरण गणित हैं। निगमन के आधार पर स्वयंसिद्धियों के द्वारा कुछ अन्य नियम स्थापित किये जाते हैं , चूँकि ये नियम स्वयंसिद्धियों के द्वारा निगमित किये जाते

हैं, इसलिए उनमें भी सार्वभौमिकता और अनिवार्यता होती है। सभी बुद्धिवादी अन्तः प्रज्ञा को ज्ञान का सर्वोत्तम स्रोत मानते हैं।

डेकार्ट ने केवल कुछ प्रत्ययों को आजानिक मा ना था, वहाँ स्पिनोजा और लाइ बनीज ने सभी प्रत्ययों को आजानिक मा ना। लाइबनीज़ के दर्शन में बुद्धिवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा जाता है । उसकी प्रसिद्धि शक्ति है- 'बुद्धि को छोड़कर, बुद्धि में ऐसा कोई प्रत्यय नहीं है, जो पहले इन्द्रियानुभव में रहा हो, अर्थात् बुद्धि के मूल तत्वों की खोज इन्द्रियानुभव में नहीं की जा सकती है। लाइबनीज इससे भी आगे बढ़कर मानव-मन में विद्यामान प्रत्ययों के विश्लेषण के साथ-साथ विज्ञान के प्रत्ययों के विश्लेषण पर भी बल देता है।

बुद्धिवादियों ने ज्ञान का मूल आजानिक प्रत्ययों को स्वीकार किया। ज्ञान के मूलतत्व बुद्धि में निहित है , यह सिद्धांत बुद्धिवादियों की दर्शन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण देन है। किन्तु हमारी चेतना विषयोन्मुख होती है। ज्ञान वस्तु तंत्र होता है। अत: कोटी बुद्धि ही ज्ञान का आधार नहीं हो सकती है। यदि प्रागनुभविक और विश्लेषणात्मक निर्णयों को ही ज्ञान का प्रतिमान माना जाए तो हमारा वस्तुजगत् का ज्ञान 'ज्ञान' की संज्ञा से ही वंचित हो जायेगा। ज्ञान के लिए सार्वभौमिकता और अनिर्वायता के के साथ- साथ नवीनता भी आवश्यक है। ज्ञान की वस्तुनिष्ठता और नवीनता बिना अनुभव के संभव नहीं है।

1.5 अनुभववादियों के अनुसार ज्ञान

ज्ञान के सबसे अधिक लोकप्रिय , स्पष्ट और प्रचलित साधन इन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियों की संख्या पाँच है , जो क्रमश: चक्षु , जिह्वा, त्वक, प्राण और श्रोत हैं। इनके द्वारा क्रमश, रूप, रम, स्पर्श, गंध और शब्द का अनुभव प्राप्त होता है । ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्येन्द्रियाँ कहीं जाती हैं। इनके द्वारा हमें बाह्य जगत् का अनुभव प्राप्त होता है। बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त एक आंतरिक इन्द्रिय को भी स्वीकार किया गया है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा में अन्य बाह्येन्द्रियों के समान मन को भी अचेतन माग गया है। उनके अनुसार चेतना का संबंध केवल 'आत्मा से है। मन अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। किन्तु पाश्चात्य दार्शनिकों ने मांइड को 'चेतन' माना है।

ज्ञानमीमांसा में अनुभववादी परम्परा का प्रारंभ सोफि स्टों के समय से माना जा सकता है। उनके अनुसार ज्ञान प्रत्यक्ष है। ज्ञान का एक मात्र साधन अनुभव है। आधुनिक दर्शन में अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का प्रारंभ लॉक-दर्शन से होता है?, अर्थात् ज्ञानमीमांसीय समस्याओं की ओर दार्शनिकों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय लॉक को है। लॉक के अनुसार जगत् को जानने के पूर्व हम क्या और कितना जान सकते हैं, पर विचार करना चाहिए। बुद्धिवादी अपने ज्ञान के सीमाओं, शर्तों, और साधनों पर बिना विचार किये ही देखा, आत्मा तथा जगत् की सत्ताओं को जानने का प्रयास करने के कारण बुद्धिवादियों को रूढ़िवादी कहा गया है। यह रूढ़िवाद काण्ट के आलोचनावाद से भिन्न है।

अनुभववाद एक ऐसी दार्शनिक पद्धति है , जिसके अनुसार समस्त ज्ञान का स्त्रोत इन्द्रियानुभव है। मानव - मन में कोई प्रत्यप पहले से आजानिक (Innate) नहीं है। वास्तविक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दर्शनशास्त्र को इन्द्रियानुभविक पर आधारित होना चाहिए। यहां अनुभव को अधिक व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। यह संवेदन तक सीमित नहीं है। उसके अंतर्गत स्वसंवेदन भी समाहित हो जाता है। आत्मा स्वरूपत ज्ञान शु न्य है। क्योंकि समस्त ज्ञान में संवेदन और स्वसंवेदन के द्वारा उत्पन्न होता है। सरल प्रत्यय मन के लिए प्रदत्त है। उनके ग्रहण में आत्मा निष्क्रिय रहती है। किंतु स रल प्रत्ययों से जटिल प्र त्ययों के निर्माण में उसे सक्रिय होना पड़ता है।

परम्परागत अनुभववाद की पराकाष्ठा हयूम का संशयवाद है। उनकी मान्यता यह है , कि अनुभव के द्वारा सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान असंभव है। चूँकि बाह्य जगत के ज्ञान का स्त्रोत इन्द्रियानुभव है , इसलिए हमारा बाह्य जगत् का ज्ञान केवल प्राप्ति है। ह्यूम के अनुसार समस्त मानव ज्ञान को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

1. आकारिक ज्ञान अर्थात् प्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों का ज्ञान
2. तथ्यात्मक ज्ञान

ज्ञान के उद्भव, सीमाओं और प्रामाणिकता का निरुपण करने के लिए लॉक ने जिस अनुभववाद की आधारशिला रखी थी , ह्यूम का संशयवाद ने उसकी विसंगतियों को उद्घाटित कर दिया। संशयवाद के आगमन में ज्ञान का पलायन स्वभाविक हो जाता

है। ज्ञान और संशय, प्रकाश और अंधकार के समान है, जो एक साथ नहीं रह सकते हैं।

1.6 आलोचनावाद (काण्ट)

आधुनिक दर्शन में काण्ट के आलोचनावाद को ज्ञानमीमांसा का प्रतिमान कहा जा सकता है। उसका आलोचनावाद रूढिवादी या बुद्धिवादी तथा अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के साथ- साथ- अंतः प्र ज्ञावाद से भी भिन्न है। काण्ट की सुप्रसिद्ध कृति 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना ज्ञानमीमांसा का एक प्रमुख ग्रंथ है। काण्ट ने 'आलोचनावाद' पद का प्रयोग शाब्दिक अर्थ में नहीं किया है। इसके अंतर्गत किसी सिद्धांत का निराकरण अथवा 'खण्डन 'आलोचना' के शाब्दिक अर्थ में नहीं किया गया है। इसमें बुद्धिवादी और अनुभववादी ज्ञानमीमांसा में अन्तर्निहित गुणों और दोषों का निरूपण किया गया है।

काण्ट के अनुसार बुद्धि भले ही ज्ञान का एक प्रमुख आधार हैं , किन्तु वह किसी वस्तु को साक्षात् रूप से जानने का साधन नहीं है। बुद्धि के द्वारा उसी ज्ञान का परीक्षण और मूल्यांकन किया जाता है, जो ज्ञान हमारे पास पहले से ही विद्यमान है। गणित का अस्तित्व सिद्ध करता है , कि जहाँ एक ओर हमा रा ज्ञान यथार्थ और संश्लेषणात्मक होता है। वहीं दूसरी ओर सार्वभौम और अनिवार्य भी है। हमें बाह्य जगत से संबंधित तथ्यों के बारे में नवीन सूचना प्राप्त होने के साथ- साथ सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान भी प्राप्त होता है। इन्द्रियानुभव के द्वारा वस्तुजगत् से संबंधित केवल कुछ विशिष्ट तथ्यों के बा रे में सूचना मिल सकती है। अनुभव से सभी तथ्यों के बारे में कोई प्रमाणिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है।

यहाँ पर काण्ट बुद्धिवादी और अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के आंशिक सत्य को स्वीकार करता है। जब वह अपनी आलोचना के प्रारंभ में कहता है - नि: संदेह हमारा प्रत्येक ज्ञान अनुभव से प्रारंभ होता है, तो यह अनुभववाद के सत्यांश का समर्थन है। इसके बाद वह बुद्धिवाद के इस सत्यांश को स्वीकार करता है , 'यद्यपि ज्ञान अनुभव से प्रारंभ होता है, तथापि इसकी उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती है। इस संदर्भ में प्रो ए. सी. मुखर्जी का यह कथन तर्कसंगत है , कि का ण्ट के लाइबनीज के दर्शन का मूल्यांकन ह्यूम की दृष्टि से और ह्यूम के दर्शन का मूल्यांकन लाइबनीज की दृष्टि से करके अपने आलोचनावाद का प्रतिपादन किया।

1.7 ज्ञान की सीमाएँ

आधुनिक दर्शन में ज्ञान की सीमाओं को निर्धारित करने का प्रयास सबसे पहले जान लॉक ने किया। उसके अनुसार तत्वमीमांसीय समस्या पर चिंतन करने से पहले हमें अपनी बुद्धि तथा अनुभव की सीमा और क्षमता पर विचार करना चाहिए। हमारी बुद्धि की क्षमता क्या है? यह स्पष्ट होना चाहिए, कि विचारणीय समस्याएँ हमारी बुद्धि और अनुभव की सीमा के अंतर्गत आती है अथवा नहीं।

दार्शनिकों ने धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रतिपादन दार्शनिक पद्धति से किया । जिन सत्ताओं को श्रुति के आधार पर स्वीकार किया जाता था, बुद्धिवादियों ने उसे तर्क से पुष्ट करने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए , डेकार्ट और लाइबनीज ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी । किंतु वे तर्क बुद्धि और तर्क-प्रक्रिया की सीमाओं को भूल ग ये। बाद में चलकर का ण्ट ने ईश्वर को सिद्ध करने के लिए दी गयी इन युक्तियों को दोषपूर्ण ठहराया ।

लॉक के अनुसार ज्ञान प्रत्ययों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का प्रत्यक्ष है। सभी प्रसयों का आधार अनुभव है। अतः हमारे समस्त ज्ञान की सीमा अनुभव पर आश्रित केवल तीन प्रकार के ज्ञान- अन्त: प्रज्ञा त्मक ज्ञान, यौक्तिक ज्ञान, और बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही निश्चायक कहा जा सकता है। किन्तु ये तीनों प्रकार के ज्ञान सीमित है।

एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय का निगगन करने में हम कभी - कभी निगमना त्मक युक्ति के अंतर्गत उत्तरवर्ती सोपान का अन्त: प्रज्ञात्मक ज्ञान प्राप्त करने में विफल हो जाते हैं। हम जब तक इस युक्ति के अंतर्गत आने वाले सभी सोपानों के प्रति प्रातिभ रूप से निश्चित न हो , तब तक इस प्रकार की युक्ति आगे नहीं बढ़ सकती है। बाह्य प्रत्यक्ष का क्षेत्र और विस्तार भी अत्यन्त संकुचित है। हमे केवल इन्ट्रियों के समक्ष प्रस्तुत विषयों का ही ज्ञान हो सकता है। हमारी इन्द्रिया संख्या और शक्ति दोनों में सीमित है।

1.8 सारांश

इन्द्रियानुभव और वैज्ञानिक पद्धति से हमें बा ह्य जगत् अर्थात् वस्तुओं के ढ़ाचे का केवल सतही ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। अनुभव के द्वारा वस्तुओं के आंतरिक गुणों का ज्ञान नहीं हो सकता है। हम यह जानते हैं , कि हमारा अनुभव भौतिक

जगत् का एक मानचित्र प्रस्तुत करता है। हम जानते हैं , कि एक ऐसी कुंजी है , जिसके द्वारा आनुभविक सत्य को भौतिक जगत् से संबंधित रुपान्तरित किया जा सकता है। किन्तु जिस कुंजी से हमें इसका ज्ञान होता है, हम उसे नहीं जानते है।

1.9 संभावित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. ज्ञान के संदर्भ में अनुभववादियों के विचारों को स्पष्ट करें ।
2. काण्ट अपने 'आलोचनावाद' में कैसे बुद्धिवादी व अनुभवादी विचारों को समाहित करते हैं। समझाएं
3. बुद्धिवादियों के अनुसार ज्ञान का आधार बुद्धि क्यों? व्याख्या करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. अनुभववाद को स्पष्ट करें।
2. संक्षेप में ज्ञान की सीमा बताएं।
3. बुद्धिवादियों के ज्ञान की सीमा बताएं।

इकाई 11 : सत्ता दृश्यता है

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 सत्ता दृश्यता है

11.3 अध्यात्मवाद

11.4 व्यक्तिगत अध्यात्मवाद

11.5 अस्तित्व का सीधा संबंध प्रत्यक्ष से है

11.6 सर्वाहंवाद या आत्मनिष्ट प्रत्ययवाद

11.7 समीक्षा

11.8 सारांश

11.9 बोध प्रश्न

11.10 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

----------0000----------

11.0 उद्देश्य

बर्कले के पूर्ववर्ती दार्शनिक लॉक ज्ञान में तीन अवयवों का होना अनिवार्य मानते हैं। 1. 'बाह्य वस्तुएं' 2. मन में स्थित प्रत्यय 3. मानसिक प्रत्यय व बाह्य वस्तुओं के बीच 'संवादिता' का होना। जगत का ज्ञान तभी हो सकता है जब ज्ञाता के मन में किसी रूप में इसका प्रतिनिधित्व हो।

बर्कले लॉक के इस सिद्धांत को अस्वीकार करते हैं क्योंकि बर्कले के अनुसार हमारा ज्ञान केवल प्रत्ययों तक सीमित है। लॉक द्वारा एक अदृश्य जड़ जगत में विश्वास करना त्रुटि पूर्ण है। बर्कले का मानना है कि वास्तविक जगत वह है जो अनुभवगम्य हो। अनुभव का एकमात्र विषय प्रत्यय है। इस प्रकार आत्मा और उसके प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं मानी जा सकती। ज्ञाता को ज्ञेय का ज्ञान साक्षात ही प्राप्त होता है।

प्रत्यय चेतन या मानसिक होते हैं जबकि तथाकथित वस्तुएं अमानसिक या अचेतन होती हैं। अतः प्रत्यय वस्तुओं के अनुरूप हो ही नहीं सकते हैं। मानसिक अमानसिक के समान नहीं हो सकता है। यदि हम यह मान भी ले कि मानसिक प्रत्यय बाह्य वस्तुओं के अनुरूप होते हैं तो प्रश्न उठता है कि दोनों के बीच संवाद होने का ज्ञान कैसे संभव हो सकता है। प्रत्ययों को वस्तुओं का चित्र या प्रतिबिंब भी कहा जाता है। किंतु प्रत्ययों को वस्तुओं का प्रतिबिंब तभी कहना उचित रहेगा जब प्रत्ययों से स्वतंत्र रूप में अनेक बिम्बों की सत्ता हो या उनके अनुरूप वस्तुएं जानी जा सके अर्थात अनेक बिम्ब (वस्तुओं) को स्वतंत्र रूप में जाना जा सके। परंतु लॉक के पास प्रत्ययों से स्वतंत्र रूप में बाह्य वस्तुओं को जानने का कोई अन्य साधन नही है। इस प्रकार बर्कले मानसिक प्रत्ययों के कारण के रूप में जड़ पदार्थ को स्वीकार नहीं करते हैं। बर्कले मूलगुण व उपगुण के भेद को भी स्वीकार नहीं करते। ये दोनों ज्ञाता पर ही आश्रित हैं। अर्थात दोनों प्रत्ययात्मक या आत्मनिष्ठ है।

इस प्रकार से आगे हम यह देखेंगे कि बर्कले कैसे यह दर्शाते हैं कि ज्ञाता (आत्मा) और ज्ञेय (प्रत्यय) के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं होती है।

11.1 प्रस्तावना

अनुभववादी बर्कले के अनुसार केवल वह ही सत् हो सकता है। जो अनुभव का विषय है। अनुभव का विषय प्रत्यय हैं और प्रत्ययों का अनुभव करता कौन है? वह है आत्मा। लॉक के प्रत्यय बाह्य वस्तुओं के मूल गुणों के प्रतिबिंब थे परंतु बर्कले के प्रत्यय आत्मनिष्ठ (Subjective) हैं। बर्कले चूँकि की मानते कि तथाकथित जड़ वस्तुओं की सत्ता ही नहीं होती। बर्कले के अनुसार किसी वस्तु के अस्तित्व युक्त होने का तात्पर्य है कि वह दृश्य या अनुभव का विषय है। आत्मा तो 'है' क्योंकि उसके बिना तो कोई ज्ञान संभव ही नहीं होगा परंतु बाह्य वस्तुएं वस्तुतः हमारे मन के आंतरिक प्रत्यय हैं, तथाकथित बाह्य वस्तुएं अनेक संवेद्य प्रत्ययों के संघात हैं। ये रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि गुणों के समूह हैं। ये गुण अनुभवकर्ता आत्मा पर आश्रित है। इस प्रकार तथाकथित बाह्य वस्तुएं आत्मा के ही प्रत्यय हैं। 'सत्ता दृश्यता है' कथन के द्वारा वे यह दर्शाते हैं कि वस्तुएं स्वरूपतः भौतिक या जड़ नहीं हैं बल्कि प्रत्ययों के परिवार हैं।

11.2 सत्ता दृश्यता है

बर्कले अध्यात्मवादी (Spiritualist) थे वे भौतिकवाद एवं नास्तिकतावाद को पसंद नहीं करते थे। उनके अनुसार विश्व की समस्त वस्तुएं एक सर्वोच्च सत्ता या निःश्रेयस (Supreme God) से संचालित होती हैं।। अपने पूर्ववर्ती लॉक के दर्शन में उन्होंने कमी पाई। उनके अनुसार भौतिकतावाद के खंडन मात्र से आध्यात्मवाद स्वतः स्थापित हो जाएगा।

बर्कले के अनुसार रूप, गंध, स्पर्श आदि सरल एवं विशेष गुणो से हमारा ज्ञान शुरू होता है। सर्वप्रथम हम अपने संवेदनों में प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न गुणों को प्राप्त करते हैं या फिर इनके प्रतिबिंब या प्रतिमाओं को जानते हैं। ज्ञान में इन सरल

प्रत्ययों के अतिरिक्त कोई और प्रत्यय होता ही नहीं। इन सब प्रत्ययों की निर्भरता हमारे मन पर है। जो कुछ भी हम अनुभव करते हैं वह मानसिक है या मन पर आश्रित है। इस बात को बर्कले अपनी उक्ति में 'esse est percipi' 'दृश्यते इति वर्तते' के रूप में व्यक्त करते हैं अर्थात किसी वस्तु का होना (अस्तित्व) मन के प्रत्यय या प्रतीति पर निर्भर करती है। जो देखा नही गया कभी, जो कभी किसी के द्वारा सुना नही गया वह निरर्थक है। बर्कले के अनुसार अज्ञात या प्रत्यय के रूप में कोई भी वस्तु संभव नहीं हो सकती है। यहां एक प्रश्न उठता है कि कुछ वस्तुओं की जानकारी हमें कालांतर में या भविष्य में होती है, अभी हमारे लिए दृष्ट नहीं है तो क्या इसकी सत्ता भी नही स्वीकार की जा सकती? यहां बर्कले का उत्तर होगा कि यह भी प्रत्यय है जो साक्षात प्रत्यय के द्वारा अनुमित होते हैं। बर्कले के अनुसार विश्व की समस्त वस्तुएं प्रत्यय होने के कारण मानसिक हैं और प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी की सत्ता संभव नही है।

इसके आगे बर्कले कहते हैं चूँकि प्रत्यक्य निष्क्रिय हैं, इसलिए संवेदित प्रत्ययों के अतिरिक्त कोई और सत्ता भी होनी चाहिए जो इन प्रत्ययों को ग्रहण करती है। परंतु वह स्वयं प्रत्यय नहीं है और यही आत्मा है। प्रत्ययों की सत्ता दृश्यता (Percipi) में और आत्मा की सत्ता (Perceiving) या क्रिया में है। इस प्रकार आत्मा ही एक पदार्थ है और प्रत्यय उसे पर निर्भर करते हैं। इसलिए आत्मा और आत्मा के प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी की सत्ता नही है।

अस्तित्व का अर्थ है प्रत्यय का विषय होना। बर्कले के अनुसार मन के बिना पदार्थ की सत्ता नही होती। किसी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ है कि वह मेरे मन या अन्य किसी मन या नित्य आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष किया गया है।

लॉक द्वारा प्रतिपादित प्रमुख एवं गौड गुणों के भेद का बर्कले ने खंडन किया।

लॉक ने माना कि प्रमुख गुण जैसे विस्तार, आकार, गति, ठोसपन वस्तुओं में होते हैं और गौण हमारे मन में इन वस्तुओं के प्रभाव मात्र हैं। गौण गुण का अस्तित्व वस्तुओं में नहीं होता बल्कि हमारे मन में होता है।

परंतु बर्कले के अनुसार गौड गुण की भांति प्रमुख गुण भी मेरे मन के ही संवेदन है। मैं अपने बिस्तर के प्रत्यय (मूल गुण) को रंग के प्रत्यय (उपगुण) तथा अन्य गौड़ गुणों से अलग नहीं कर सकता। हम कभी भी ऐसी विस्तारमय वस्तु का प्रत्यक्ष नही करते जिसमें कोई रंग न हो अथवा रंग हो तो बिस्तर न हो। अतः प्रमुख गुण और गौड़ गुणो में वस्तुओं में अभिभाज्य संबंध है। दोनों प्रकार के गुणों को अलग नही किया जा सकता। प्रमुख गुण भी मन पर उतना ही आश्रित रहता है जितना गौड़ गुण। इस प्रकार प्रमुख गुण एवं गौड़ गुण दोनों मानसिक है।

लॉक ने कहा था कि गौड गुण में सापेक्षता है इसलिए वे मन पर आश्रित हैं। जैसे कोई वस्तु किसी को अधिक गर्म तो किसी को कम गर्म लग सकती है (गौड गुण के उदाहरण में) लेकिन बर्कले के अनुसार यही सापेक्षता, आकार, गति जैसे प्रमुख गुणों के उदाहरण में भी देखने को मिलती है। एक दिशा में चल रही ट्रेनों की गति उसमें बैठे यात्रियों को काम जबकि विपरीत दिशा में चल रही ट्रेनों की गति उनमें बैठे यात्रियों को अधिक प्रतीत होती है। इस प्रकार प्रमुख गुण भी सापेक्ष है और गौड गुण की भांति मन पर आश्रित है।

पुनः लॉक का यह भी मानना था कि गुणों का कोई आधार द्रव्य तो होना ही चाहिए क्योकि बिना आधार के गुणों का अस्तित्व असंभव है। परंतु बर्कले यह भी अस्वीकार करता है कि इन गुणों का कोई अज्ञात आधार (द्रव्य है) जिस द्रव्य को हम देख नही सकते उसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है? द्रव्य की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। जब भी हम किसी द्रव के प्रत्यक्ष की बात करते हैं तो वह संवेदना एवं आत्म निरीक्षण के आधार पर और यहां मुख्यतः किसी गुण, रंग, स्पर्श, भाव, उद्वेग आदि की ही प्राप्त होती है। आंखों द्वारा किसी रंग के, कान द्वारा किसी आवाज के प्रत्यक्ष की ही बात करते हैं। स्वयं लॉक का मानना है कि भौतिक द्रव्य इंद्रियों से नही जाना जा सकता क्योंकि वह अज्ञात है। यदि भौतिक द्रव्यों का प्रत्यक्ष हो तो वह प्रत्यय (संवेदन या स्वसंवेदन) ही होगा और सब प्रत्यय मानसिक होते हैं। अतः भौतिक या जड़ द्रव्य मन से परे स्वतंत्र सत्ता न होकर मानसिक ही है।

लॉक के अनुसार भौतिक द्रव्य को प्रत्यक्ष ना मानकर अनुमानित सत्ता कहा जा सकता है। अगर यह प्रश्न किया जाए कि मन और द्रव्य में क्या संबंध है? तो लॉक का उत्तर होगा कि यह संबंध बुद्धिगम्य नही है।

बर्कले के अनुसार भौतिक द्रव्य को मानसिक प्रत्ययों का कारण नही माना जा सकता क्योंकि कारण कार्य में समानता होनी चाहिए और इनके पारस्परिक संबंध को बुद्धिगम्य तो होना ही चाहिए। हर कोई जड़ पदार्थ को निष्क्रिय समझता है। अतः जड़ द्रव्य मासिक प्रत्यय का उत्पादक कारण नही माना जा सकता। केवल सक्रिय सत्ता ही उत्पादक हो सकती है। यही कारण है कि भौतिक पदार्थों को प्रत्ययों का अनुमानित उत्पादक कारण नही माना जा सकता।

भौतिक द्रव्य की धारणा से कोई सैद्धांतिक लाभ नही है और न कोई बौद्धिक तथा व्यवहारिक संगति ही है।

बर्कले का मानना है कि भौतिक द्रव्य की धारणा लाभ की बजाय हानि पहुंचती है। भौतिक जड़ को शाश्वत समझने से ईश्वर की सत्ता की असीमितता में कमी आती है। आम लोगों को यह भी भ्रम होने लगता है कि जगत की घटनाएं जड़ द्रव्य के नियमों द्वारा संचालित होती हैं। इस जड़वादी विचारधारा को स्वीकार करने पर नास्तिकवाद की भावना का प्रसार होने लगता है। ईश्वर में लोगों की आस्था कम होने लगती है। बर्कले के अनुसार ईश्वर समस्त कल्याण/ ज्ञान/ प्रकाश का स्रोत है. ईश्वर से विमुख होने के कारण मानव अंधकार में फंस जाता है।

बर्कले का मानना है कि बाह्य जड़ द्रव्य की स्वतंत्र धारणा का त्याग करके हमें अनुभूत विषय को अपनाने पर बल देना चाहिए। अनुभूत विषय आत्म एवं उसमें विद्यमान प्रत्यय है। आत्मा एवं उसके प्रत्यय आध्यात्मिक सत्ताएं हैं। इस प्रकार बर्कले के अनुसार आत्मवाद एवं प्रत्ययवाद ही एकमात्र न्याय संगत सिद्धांत है।

11.3 अध्यात्मवाद (Idealism)

आदर्शवाद, अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद दर्शन की वह वैचारिक प्रणाली है जो आत्मा, मन, चैतन्य या प्रत्यय को विश्व की मूलभूत सत्ता या तत्व मानती है। यहां

माना जाता है कि समस्त भौतिक पदार्थ का मूल मनस या आत्मा है। इसमें यह माना जाता है कि आत्म तत्व जड़ तत्व का किसी न किसी रूप में आधार है।

अध्यात्मवाद जड़वाद का विपरीत सिद्धांत है। जड़वाद में जड़ या भौतिक तत्व को इस संसार का मूल कारण माना जाता है एवं जड़ की स्वतंत्रता सत्ता को स्वीकार करता है।

11.4 व्यक्तिगत अध्यात्मवाद (विज्ञानवाद) (Subjective Idealism)

आइरिश दार्शनिक बर्कले के प्रत्ययवाद (विज्ञानवाद) को व्यक्तिगत अध्यात्मवाद (विज्ञानवाद) कहा गया है। उनके अनुसार विषय व्यक्ति के ज्ञान पर आधारित है। ऐसा कोई विषय नही है जो व्यक्ति के ज्ञान से परे कहा जा सकता हो। जगत की वस्तुएं प्रत्यक्ष करने वाले अतःकरणों के व्यक्तिक विचार मात्र है, अन्य कुछ नही। जड़ मन के विचारों का समूह मात्र है और मन से स्वतंत्र।

11.5 अस्तित्व का सीधा संबंध प्रत्यक्ष से है

बर्कले के अनुसार कोई वस्तु है, का तात्पर्य है कि उस वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है। यदि यह कहा जाए कि कोई वस्तु थी तो इसका तात्पर्य है कि इसका प्रत्यक्ष किया गया था और यदि यह कहा जाए की कोई वस्तु होगी तो इसका अर्थ है कि भविष्य मे उसे वस्तु का प्रत्यक्ष होगा। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का अस्तित्व होना इसका प्रत्यक्ष होना है। इसलिए बर्कले कहते हैं 'Esse est percipi'

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के अभाव में उसके अस्तित्व की कल्पना नही की जा सकती है। हम जब भी किसी वस्तु के विषय में सोचते हैं तो उसे मनस से संबंधित या मनस पर आधारित पाते हैं। आत्मा या मनस से असंबंधित वस्तु का विचार आत्म व्याघाती है। अतः बर्कले के अनुसार हम कह सकते हैं कि बाह्य वस्तुएं हमारे विचार मात्र हैं और कुछ नहीं। जिसे हम द्रव्य के नाम से पुकारते हैं वह कुछ गुण का समूह मात्र है चूँकि प्राथमिक एवं गौड दोनों गुण हमारी आत्मा/ मनस के

विचारों के अतिरिक्त कुछ और नही है। इसलिए हम तथाकथित बाह्य जड़ द्रव्य को भी विचारों के अतिरिक्त कुछ नहीं मान सकते।

काल्पनिक वस्तु एवं व्यावहारिक जगत में भेद कैसे होगा? बर्कले के उपरोक्त विचारों को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जगत के पदार्थ एवं काल्पनिक वस्तुओं में कोई भेद है या नही? यहां बर्कले का उत्तर होगा कि जगत (व्यावहारिक) के पदार्थ परमात्मा द्वारा मनुष्यों के सीमित अंतःकरण पर नियमित ढंग से अंकित की हुई संवित्तियाँ है और काल्पनिक पदार्थ वे प्रतिछाया है जिनको मनुष्य का सीमित अंतःकरण स्वयं उत्पन्न करता है। संवित्तियाँ अधिक सबल, स्पष्ट एवं व्यवस्थित होती हैं और कल्पनिक विचार (काल्पनिक पदार्थ) अस्पष्ट, निर्बल एवं अव्यवस्थित होते हैं। ध्यातव्य है कि संवित्ति और कल्पित विचार भिन्न होते हैं। फिर भी दोनों व्यक्तिगत हैं और मनस पर आश्रित है। अंतःकरण से स्वतंत्र उन दोनों का कोई अस्तित्व नही होता। हमारी संवित्तियाँ कितनी भी सुस्पष्ट हो फिर वे रहेंगे विचार ही अर्थात उनका अस्तित्व मनस में ही है या मनस के द्वारा ही उनका प्रत्यक्ष होता है। यह ठीक उसी प्रकार से होता है जैसे मनस के द्वारा उत्पन्न विचारों का। वास्तविक वस्तुओं और काल्पनिक वस्तुओं में भेद होता तो है परंतु दोनों के अस्तित्व का आधार अन्तःकरण ही है।

11.6 आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद या व्यक्तिगत अध्यात्मवाद या सर्वाहंवाद

बर्कले के दर्शन को प्रायः उपर्युक्त नाम से पुकारा जाता है क्योंकि वे जगत की वस्तुओं के अस्तित्व को मनस से निरपेक्ष या स्वतंत्र नही मानते। तथाकथित भौतिक वस्तुएं प्रत्यक्ष करता मनस के विचार ही है। परंतु बर्कले सर्वाहंवादी हैं या नहीं यह जानने के लिए हमें सर्वाहंवाद को समझना होगा। सर्वाहंवाद के अनुसार संसार में मात्र 'मैं और मेरे विचारों का ही अस्तित्व है' अन्य किसी की सत्व नही है। परंतु बर्कले का मानना है कि मेरे मनस के अलावा अन्य अंतःकरणों का अस्तित्व भी है। जगत में अनेक वस्तुएं जिनका प्रत्यक्ष मैं नहीं कर रहा उनका अस्तित्व इसलिए स्वीकार किया जाता है क्योंकि अन्य अंतःकरणों के द्वारा उनका प्रत्यक्ष हो रहा है।

बर्कले परमात्मा को भी मानते हैं। बर्कले के अनुसार जगत की तथाकथित वस्तुओं की संवित्तियाँ सीमित अंतःकरण नहीं उत्पन्न करते उन्हें परमात्मा सीमित अन्तःकरणों में कुछ निश्चित नियमों के अंतर्गत उत्पन्न करता है। इसलिए बर्कले के दर्शन को सर्वाहंवाद कहना अनुचित है।

11.7 समीक्षा

नव्य वस्तुस्वतंत्रवादी मूर का कहना है कि किसी वस्तु का अस्तित्व उसके प्रत्यक्ष पर नहीं आधारित होता बल्कि वस्तु का प्रत्यक्ष उसके अस्तित्व पर आधारित होता है। एक स्थल पर हमें लाल रंग का और दूसरे स्थल पर नीले रंग का प्रत्यक्ष होता है तो उसे लाल और नीले रंग में अंतर का कारण हमारा ज्ञान नहीं बल्कि ज्ञान के विषय ही होते हैं। ज्ञान का विषय हरा है तो हरे का प्रत्यक्ष होगा पीला है तो पीले का। इस प्रकार मूर ने व्यक्तिगत अध्यात्मवाद का विरोध किया है।

बर्कले के अनुसार वस्तु एवं उसकी संवित्ति में तादात्म्य है क्योंकि उनका एक दूसरे से अलग प्रत्यक्ष हम नहीं कर सकते। किंतु प्रत्यक्ष के अपृथक्त्व से तादात्म्य की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि हम दो वस्तुओं का प्रत्यक्ष सदा साथ-साथ करते हैं तो इससे यह सिद्ध नही हो जाता कि दोनों अभिन्न है। बर्कले का मानना है कि बाह्य वस्तुएं विचारों के सदृश्य हैं तो वे वस्तुतः विचार ही है। असंगत युक्ति है क्योंकि सदृश्य का अर्थ तादाम्य नही होता। अलेक्जेंडर का मानना है कि यह तो ठीक बात है कि जब हम कभी किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उसे ज्ञात वास्तु के रूप में ही जानते हैं। किंतु बर्कले का यह तर्क देना कि क्योंकि वस्तु का ज्ञान मनस पर निर्भर करता है इसलिए वस्तु का अस्तित्व भी मनस पर ही निर्भर है अनुचित है। वस्तु के ज्ञान एवं वस्तु को एक ही नही माना जा सकता है।

बर्कले प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में प्रत्यक्षकर्ता की 'मानसिक अनुभूति' तथा प्रत्यक्ष की जाने वाली 'वस्तु' इन दोनों में भेद नहीं कर पाते। पहली क्रिया या अनुभूति है तो दूसरी पदार्थ या वस्तु है। कभी तो बर्कले का संवित्ति एवं विचार से अभिप्राय मानसिक क्रिया से होता है, तो कभी मन में उपस्थित वस्तु से। इस प्रकार वे भ्रामक

रूप में संवित्ति एवं विचार का प्रयोग करते हैं। बर्कले ने स्वप्न में होने वाली अनुभूतियों एवं जागृत अवस्था में होने वाली अनुभूतियों दोनों को संवित्ति कहा एवं एक समान माना है। परंतु यह अनुचित प्रतीत होता है। स्वप्न में होने वाली अनुभूतियों की रचना स्वयं मनस कर देता है। इसके उत्पन्न होने के लिए बाह्य पदार्थों के साथ ज्ञानेंद्रियों एवं मनस के संपर्क की आवश्यकता नही होती। अतः उन्हें जागृत अवस्था की संवित्तियो के समान नहीं कहा जा सकता क्योंकि जागृत अवस्था की संवित्तियाँ ज्ञानेंद्रियों एवं मनस पर बाहर से आरोपित की जाती हैं। जो ज्ञाता पर निर्भर नही करती। ज्ञाता सापेक्ष नहीं होती।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण संप्रत्यय जिस पर बर्कले का दर्शन अपना ध्यान आकृष्ट करता है वो ये है कि बाह्य जगत जिसका कि हम सबको अनुभव होता है जिसे प्रायः संवित्ति कहा जाता है। इन संवित्तियों के बारे में बर्कले का मानना है कि ये संवित्तियाँ सीमित अंतरकरणों में ईश्वर के द्वारा उत्पन्न कर दी जाती हैं।

बर्कले एक अनुभववादी दार्शनिक है। अतः प्रश्न उठता है कि ज्ञानेंद्रियों के अतिरिक्त ज्ञान का कोई अन्य साधन वे मान नहीं सकते तो फिर कैसे वे एक अतीन्द्रिय सत्ता 'ईश्वर' के अस्तित्व को पा सकते हैं या सिद्ध कर सकते हैं। राल्फ बार्टन पेरी जो एक नव वस्तु स्वतंत्रवादी दार्शनिक थे, ने बर्कले के दर्शन को आत्मकेंद्रित दुर्दशा (Egocentric Predicament) से ग्रस्त बताया है। आत्मकेंद्रित दुर्दशा की स्थिति में हम किसी ऐसे पदार्थ को जान ही नहीं सकते जो हमारे मन से संबंधित न हो। बर्कले ने ऐसा ही किया कि जिस वस्तु का मनस से प्रत्यक्ष नही होता उसका अस्तित्व भी नही है। यद्यपि यह मानना उचित है कि हम स्वभावतः अपने अनुभव से परे जाकर विचार नही कर सकते किंतु इसका यह तात्पर्य नही है कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हमारे ज्ञान या अनुभव पर आश्रित होता है।

वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी के अनुसार ज्ञान प्रक्रिया के लिए ज्ञाता एवं ज्ञेय दोनों की स्वतंत्रता सत्ता मानना आवश्यक है। यदि हम ज्ञाता को ज्ञेय या विषय का ही एक रूप नही मान सकते वैसे ही हम ज्ञेय या विषय को ज्ञाता या मनस का ही रूप नही कह सकते। ज्ञाता एवं ज्ञेय एक दूसरे से स्वतंत्र एवं वास्तविक हैं। यद्यपि बर्कले

को आत्मनिष्ट प्रत्ययवादी एवं सर्वाहंवादी नही कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने अपने अंतःकरण के अतिरिक्त दूसरे अंतःकरणों तथा ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है तथापि एक अनुभववादी दार्शनिक होने के कारण वे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करें यह न्याय संगत नही है।

11.8 सारांश

लॉक ने जड़ तत्व का प्रत्यक्ष अनुभव न होने के बावजूद जड़ तत्व को स्वीकार कर लिया जो कि अनुचित था और यह संशयवाद का कारण बना। केवल प्रत्यय जगत को मानकर बर्कले ने लॉक के इस द्वैतवाद को खत्म कर दिया। वह अंतर्बोध को आत्मज्ञान व सामान्यों के ज्ञान का साधन मानता है। इस प्रकार हमारा ज्ञान मात्र अनुभव सापेक्ष प्रत्यय तक ही सीमित नही है। हमारा ज्ञान बौद्धिक होने के साथ ही पारमार्थिक भी है। बर्कले के द्वारा यह स्पष्ट नही किया जाता कि यदि आत्मा और उसके प्रत्यय (प्रत्यक्ष के विषय) ही सत्य हैं, तो हम भिन्न-भिन्न समझी जाने वाली वस्तुओं में अंतर किस आधार पर कर पाते हैं?

11.9 बोध प्रश्न

1. आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद क्या है?
2. बर्कले का प्रत्ययवाद किस प्रकार लॉक के दर्शन की विसंगतियों को दूर करने का प्रयास करता है?
3. 'सत्ता दृश्यता है' सिद्धांत की समालोचनात्मक विवेचना कीजिए।

11.10 उपयोगी पुस्तकें एवं संदर्भ ग्रंथ

1. पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।
2. पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3. पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5. पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

----------0000----------

MAPH 102(N) पाश्चात्य दर्शन

खण्ड 3

बुद्धिवाद और अनुभववाद

इकाई 12 कारणता की समस्या

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रत्ययों के बीच संबंध

12.3 आगमन की समस्या

12.4 कारण-कार्य में अनिवार्य संबंध का अभाव

12.5 कारणता का निष्कर्ष

12.6 ह्यूम के दर्शन की समीक्षा

12.7 सारांश

12.8 बोध प्रश्न

12.9 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

----------000----------

12.0 प्रस्तावना

ह्यूम एक अनुभववादी दार्शनिक थे जिनकी मान्यता है कि अनुभव के आधार पर हम किसी भी प्रकार के अतींद्रिय सत्ता अथवा तत्व मीमांसा जैसे कि ईश्वर , जगत

अथवा आत्मा की स्थापना नहीं कर सकते । यही कारण है कि ह्यूम के अनुभववाद को विशुद्ध ज्ञानमिमांसीय सिद्धांत कहा जा सकता है । बर्कले एवं लाॅक आदि भी अनुभववाद को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र साधन मानते हैं परंतु वे अनुभववाद का तार्किक रूप से अनुपालन नहीं कर पाते और कहीं ना कहीं उन्होंने कल्पनाओं का सहारा लिया है।

लाॅक द्रव्य ,आत्मा , ईश्वर की कल्पना कर लेते हैं । वहीं पर बर्कले जड़ द्रव्यों का खंडन करते हैं परंतु प्रत्यय के आश्रय के रूप में आत्मा एवं परमात्मा की कल्पना करते हैं परंतु ह्यूम अनुभववाद को तार्किक पराकाष्ठा पर पहुंचते हैं और क्योंकि तत्व मीमांसा का हमें अनुभव नहीं होता अतः उन्होंने तत्व मीमांसीय सत्ता जैसे आत्मा, ईश्वर , द्रव्य इत्यादि की सत्ता पर प्रश्न चिन्ह लगाया।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हम यह जान पाएंगे कि ह्यूम के अनुसार केवल प्रत्यक्षों का ही अनुभव होता है अतः केवल प्रत्यक्ष अर्थात इंद्रिय-संस्कार एवं प्रत्यय की सत्ता को ही तार्किक रूप से हम स्वीकार कर पाते हैं।

इस इकाई के अंतर्गत हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार ह्यूम यह दिखाते हैं कि वस्तुस्थिति विषयक संबंधों का ज्ञान अनिवार्य और सार्वभौमिक रूप से सत्य नहीं हो सकता एवं ह्यूम के अनुसार केवल प्रत्ययों से संबंधित ज्ञान निश्चित एवं संदिग्ध होता है

12.2 प्रत्ययों के बीच संबंध

लाक के चिन्तन में विकसित अनुभववाद को तार्किक निष्कर्ष पर पहुंचाने का श्रेय डेविड ह्यूम को है। वह अनुभववाद की मूल मान्यता को स्वीकार करके ज्ञान की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। जिसके मूल घटक 'संस्कार' एवं 'प्रत्यय' हैं। संस्कार ही प्राथमिकता है जो संवेदन एवं स्वसंवेदन द्वारा मिलते हैं। किसी वस्तु को देखने सुनने आदि से मन में जो त्वरित प्रभाव पड़ता है वह संस्कार है। वाह्य ज्ञानेन्द्रियों

से प्राप्त संवेदन एवं उस पर आधारित स्वसंवेदन को सम्मिलित रूप में ह्यूम संस्कार कहते हैं।

इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की अनुभूतियां सम्मिलित है। इन्द्रिय संवेदन के साथ ही आंतरिक गतिविधियों को लिए ह्यूम आंतरिक प्रत्यक्ष का भी उल्लेख करते हैं। संस्कारों की अनुकृतियां प्रत्यय हैं इसलिए संस्कारों की अपेक्षा प्रत्यय क्षीण एवं कम स्पष्ट होते हैं। यहां प्रत्ययों से ह्यूम का आशय चिन्तन स्मृति आदि रूपों में संस्कारों की धंुधली प्रतिमाओं से है। संस्कार ही प्रत्ययों के जनक हैं जिनके अभाव में प्रत्यय संभव नहीं है।

स्पष्टतः सभी सरल प्रत्ययों के रूप में कोई न कोई संस्कार अवश्य रहता है। सरल प्रत्ययों को प्राप्त करने के पश्चात उससे जटिल प्रत्यय बनते हैं इसके लिए अब संस्कार आवश्यक नहीं होते हैं। अतः कोई भी सरल प्रत्यय जन्मजात नहीं हो सकता। ह्यूम से अलग बुद्धिवादियों ने प्रत्यय को जन्मजात माना था। उनके अनुसार ज्ञान का विशय प्रत्यय जन्म से बुद्धि में विद्यमान होते हैं। जबकि लाक प्रत्ययों की अनुभववादी व्यख्या से सहमत हैं। तथापि उनकी व्याख्या में संस्कार की बजाय संवेदन व सवसंवेदन का निर्माण होता है।

ह्यूम के अनुसार, संस्कार सरल अणुरूप् व एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं। प्रत्येक सरल प्रत्यय की विशेष एवं स्वतंत्र सत्ता है। तात्पर्य है कि किन्ही दो संस्कारों या प्रत्ययों में कोई अनिवार्य संबंध नहीं है और उनके बीच तार्किक निगमन भी असंभव है। इसी अवधारणा को 'मनोवैज्ञानिक या आनुभविक अणुवाद' के रूप में जाना जाताहै। यहां समस्या है कि प्रत्येक प्रत्यय स्वतंत्र एवं विशिष्ट है और उसमें कोई अनिवार्य संबंध नहीं है तो इस स्थिति में उन्हें कैसे सम्बोधित किया जाता है? अर्थात् यदि समस्त ज्ञान संस्कार जन्य है और संस्कार परस्पर स्वतंत्र है तो उनमें क्रमबद्धता कैसे आती है?

यहां ह्यूम का स्पष्टीकरण है कि प्रत्ययों के मध्य आन्तरिक व अनिवार्य संबंध न होकर वाह्य संबंध ही संभव है। ऐसे मनोवैज्ञानिक संबंध को साहचर्य कहते

हैं। जिसका आधार मानव मन में निहित सादृष्यता, देषकाल समीपता एवं कारण-कार्य भाव है। यदि दो प्रत्यय परस्पर सादृष्य होते हैं, तो सादृष्य के कारण एक वस्तु के प्रत्यय के स्मरण से दूसरी वस्तु की स्मृति हमारे मन में सजीव हो जाती हैं यदि एक घटना दूसरी घटना के बाद एक ही स्थान पर हो हो इसमें देष, काल संबंधित समीपता स्थापित हो जाती है। इसके साथ ही कारण कार्य भाव से एक प्रत्यय के उपस्थित होने पर दूसरे प्रत्यय की उपस्थिति हो जाती है। अर्थात् इनमें पूर्ववर्ती एवं परवर्ती का संबंध होता है।

इन तीनों नियमों अर्थात् सादृष्यता, समीपता, कारण कार्य भाव में से एक के होने पर भी प्रत्ययों में साहचर्य हो जाता है। यह तीनों नियम तार्किक न होकर मनोवैज्ञानिक हैं जिसका आाधार अनुभव है। इसलिए इसमें किसी प्रकार की अनिवार्यता नहीं पायी जाती है। यह हमारी आदत एवं कल्पना पर निर्भर करता है। अतः इन्द्रिय आधारित ज्ञान को पूर्णतः निश्चित एवं असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता है।

इस आधार पर ह्यूम मानव ज्ञान को दो प्रकार से व्याख्यायित करते हैं प्रथम प्रत्ययों से सम्बन्धित ज्ञान द्वितीय तथ्यों से संबंधित ज्ञान। ह्यूम के अनुसार प्रत्ययों से संबंधित ज्ञान तर्क एवं चिन्तन द्वारा प्राप्त होता है। प्रत्ययों द्वारा चिन्तन करके तर्कशास्त्र व गणित का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जैसे दो और दो चार होते हैं। ऐसा ज्ञान प्रत्ययों के पारस्परिक संबंध पर आधारित होता है। इसके लिए आनुभविक परीक्षण एवं प्रयोग की आवष्यकता नहीं होती। द्वितीय प्रकार का ज्ञान तथ्य जगत व वस्तुओं से संबंधित है जिसका आधार अनुभव है इसके लिए आनुभाविक निरीक्षण की आवष्यकता होती है क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रिय अनुभव पर आधारित है। इन्द्रियों से हमें केवल विषेश घटनाओं या पदार्थों का ज्ञान हो सकता है। जिसमें अनिष्चिचता एवं असंदिग्धता हो सकती है। अतः ऐसा ज्ञान संभाव्य होगा। इस व्याख्या से ह्यूम इस निश्कर्श पर पहुंचते हैं कि हमारा वस्तु जगत का ज्ञान अनिवार्य व सार्वभौम रूप से सत्य होने के बजाए सांयोगिक होता है। उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन में चार्वाक भी प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण स्वीकार

कर विषेशाोंं से सामान्य का ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया को मात्र सांयोगिक मानते हैं।

12.3 आगमन की समस्या

यहां प्रश्न है कि यदि हमारा समस्त ज्ञान संभाव्य है तो विषेशों के आधार पर सार्वभौम नियमों को कैसे स्थापित किया जा सकता है। इसे दर्शन जगत में आगमन की समस्या कहते हैं। ह्यूम के अनुसार कुछ विषेश घटनाओं के निरीक्षण परीक्षण के आधार पर हम भविश्य के लिए किसी सार्वभौम ज्ञान की स्थापना नहीं कर सकते क्योंकि तथ्य जगत पर आधारित आनुभविक ज्ञान सदैव सम्भाव्य ही होगा। इसी प्रकार, आत्मा एवं ईष्वर जेसी सत्ताएं हमारे अनुभव में नहीं आती इसलिए इनसे संबंधित ज्ञान संभव नहीं है।

ज्ञान के क्षेत्र में अनिवार्य एंव सार्वभौम नियमों को प्राप्त करने की संभावना पर ह्यूम ज्ञानमीमांसीय चिंतन के आधार पर प्रष्नचिन्ह लगाते हैं। परम्परागत रूप से प्रचलित कारणता संबंधी मान्यता की समीखा करके ह्यूम आगमन की समया का स्वरूप निर्धारित करते हैं। कारण-कार्य को सार्वभौम नियम माना जाता है। जिसके आधार पर दर्षन के क्षेत्र में वस्तुवाद प्रत्ययवाद एवं ईष्वरवाद आदि सिद्धांतों की स्थापना के प्रयास हुए हैं। आगमन की समस्या का संबंध तथ्यों से संबंधित ज्ञान से है। जब हम कुछ विषेशों के आधार पर सामान्य नियम बनाते हैं तो इस प्रक्रिया को आगमन कहते हैं। जैसे कुछ कोवों को देखकर यह निश्कर्श निकालना कि कौवे काले होते हैं। यह आगमन विधि है। यह आगमन दो प्रकार का होता है। पहले प्रकार के आगमन को सरल आगमन कहते हैं जो कि सीमित संख्या वाले तथ्यों के प्रेक्षण एवं गणना पर आधारित होता है।

दूसरे प्रकार के आगमन में तथ्यों में संख्या विशाल होती है। तथा इनका संबंध भूत वर्तमान एवं भविश्य तीनों से होता है। इस स्थिति में सभी तथ्यों का अनुभव कर पाना संभव नहीं हो पाता। यद्यपि अधिक से अधिक तथ्यों का निरीक्षण करने का प्रयास किया जाता है फिर भी हम सीमित उदाहरणों के आधार पर सामान्य नियमों

का निर्माण करते हैं जो कि आगमन है। आगमन की समस्या कारण-कार्य के आधार पर व्याख्यायित की जाती है। ह्यूम के अनुसार समान्यतः कारण कार्य नियम को अनिवार्य एवं सार्वभौम माना जाता है। लाक ने कारणता के आधार पर ही जड़ द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध किया था। उनके अनुसार, जड़वस्तु में कारणता की षक्ति है क्योंकि ज़ वस्तु ही प्रत्ययों का कारण है। ह्यूम के चिंतन की पृष्ठभूमि वर्कले तैयार करते हैं। जब वे कहते हैं कि एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय का जन्म नहीं दिया जा सकता क्योंकि इसमें कारणता की शक्ति नहीं होती। इसी क्रम मंे ह्यूम कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जिसे अग्नि का कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ हो वह केवल अग्नि को देखकर यह नहीं बता सकता कि अग्नि में जलाने की शक्ति है। ह्यूम एक अन्य तर्क में कहते हैं कि जब मैं अपना निरीक्षण करता हूं तो पाता हूं कि पहले हाथ ऊपर उठाने की इच्छा हुई फिर हाथ ऊपर उठाने का प्रत्यक्ष हुआ। इच्छा होना और हाथ उठाना पृथक-पृथक घटनायंे हैं जिसके मध्य कारणता की कोई भूमिका नहीं है।

12.4 कारण-कार्य में अनिवार्य संबंध का अभाव

ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य में कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता। इनमें केवल संयोगिक संबंध होता है जिसका ज्ञान अनुभव से होता है। यह तार्किक संबंध नहीं है। कार्य एवं कारण अलग अलग घटनायंे हैं और उनके संस्कार भी अलग-अलग प्राप्त होते हैं। कारणता का ज्ञान संस्कारों से मिलता है। अनुभव में जब कारण-कार्य संबंध का उल्लेख किया जाता है और जब हम इस संबंध का निरीक्षण करते हैं तो इसकी तीन विषेशतायें सामने आती हैं। प्रथम विषेशता के अन्तर्गत दैशिक और कालिक निकटता के कारण हम दो घटनाओं में कारणता का संबंध मान लेते हैं। जहां निकटता सीधे नहीं है। वहां मध्यवर्ती वस्तुओं के माध्यम से होती है। द्वितीय विषेशता के अन्तर्गत दो घटनाओं में पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती का संबंध माना जाता है अर्थात् जो कार्य है वह बाद में घटित होता है।

ह्यूम के अनुसार उपर्युक्त दोनों विषेशतायें आवश्यक है किन्तु पर्याप्त नहीं है इसके अनिवार्यता का संबंध होना आवष्यक है। जब हम दो घटनाओं को बारम्बार घटित होते देखते हैं तो पुनरावृत्ति के कारण यह अनुभूति उत्पन्न होती है कि जब भी घटना 'अ' घटित होती है तो उसके बाद 'ब' घटित होती है और धीरे-धीरे यह एक विष्वास के रूप में हमारे मन में अनिवार्यता का रूप धारण कर लेता है। वास्तविक रूप से यह अनिवार्य न तो तार्किक है और न ही वस्तुओं में निहित है। बल्कि यह एक मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता है जिसको हमारी बुद्धि घटनाओं पर आरोपित कर देती है।

यहां समस्या है कि यदि कारणता अनिवार्य संबंध नहीं है और वस्तु में वे षक्ति के रूप में भी नहीं है तो क्या वस्तु अकारण है। ह्यूम का स्पश्टीकरण है कि मैं यह नहीं कहता कि वस्तुएं अकारण है या फिर असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि कारणता को अनुभव या बुद्धि के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। कारणता सम्बन्धी ह्यूम की विवेचना आगमन की समस्या का स्वरूप निर्धारित करती है। उनके अनुसार भूत व वर्तमान अनुभवों के आधार पर भविश्य की व्याख्या करने को तार्किक नहीं माना जा सकता। आगमन के आधार पर जो सामान्य विचार स्वीकार किये जाते हैं उनका कोई औचित्य नहीं होगा। दूसरे षब्दों में भूतकाल के उदाहरणों के आधार पर भविश्य के लिए निकाले गये निश्कर्शों के औचित्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

पुनः ह्यूम कहते हैं कि आगमन केवल गणना एवं भूतकाल की घटना अथवा अनुभवों पर आधारित नहीं होता बल्कि प्रकृति की एक रूपता के कारण इसका औचित्य सिद्ध किया जाता है। किन्तु प्रकृति की एकरूपता का ज्ञान न हो तो गणितीय नियम है और न ही प्रत्ययों से सम्बन्धित नियम है बल्कि यह तथ्यों पर आधारित नियम है जो कि स्वयं भूतकाल के अनुभवों का परिणाम है इसलिए इसमें सार्वभौमिकता एवं अनिवार्यता नहीं हो सकती। चूंकि प्रकृति की एकरूपता का नियम स्वयं एक आगमनात्मक नियम है अतः इसके माध्यम से आगमन के औचित्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

कुछ दार्षनिक आगमन के औचित्य को प्रसम्भाव्यता के नियमों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं जिसे ह्यूम स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार प्रसम्भाव्यता की सापेक्ष आवृत्ति सिद्धांत स्वयं पिछले अनुभव पर आधारित होता है इसके अन्तर्गत आंकड़े एकत्रित कर निरीक्षण द्वारा यह पता लगाया जाता है कि यह नियम कितनों पर लागू होता है। यह स्वयं अनुभव पर आधारित होता है इसलिए इससे आगमन के औचित्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। स्पश्ट है कि ह्यूम की ज्ञानमीमांसा और उस पर आधारित आगमन की समस्या का निश्कर्श संषयवाद के रूप में प्रस्तुत होता है। ह्यूम के अनुसार तथ्य के विशय में कभी भी निष्चित ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। यह व्याख्या संशयवाद का मार्ग पषस्त करती है।

12.5 कारणता का निष्कर्ष

वस्तुतः आगमन का औचित्य व्यावहारिक उपयोगिता से स्पष्ट किया जाता है। अर्थात् आगमन सही है या नहीं इसका एक मात्र आधार यह हो सकता है कि जब तक आगमन सिद्धांत हमारे व्यवहार में उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं तो उसे स्वीकार करना ही बुद्धि संगत है। आगमन की सफलता ही इसका प्रमाण है किन्तु यह भी स्पश्ट है कि ह्यूम ने जिस रूप में इस समस्या को उठाया है उस स्वरूप में इसका कोई समाधान नहीं है। व्यावहारिक उपयोगिता ही आगमन के औचित्व को सिद्ध करती है।

यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के असंभव घोशित करने वाली प्रवृत्ति संषयवाद है जो कि दर्षन की उत्पत्ति के साथ ही विद्यमान रहती है। प्राचीन ग्रीक दर्शन में सोफिस्ट सम्प्रदाय एवं पाइरो आदि के चिंतन में संषयवाद स्पश्ट उभरता हे जो कि ज्ञान की सम्भावना पर प्रष्न चिन्ह लगाता है। सोफिस्ट दार्षनिक प्रोटोगोरस का प्रसिद्ध कथन है कि मनुश्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है। अर्थात् कोई भी ज्ञान सभी के लिए सत्य नही होता एवं प्रत्येक ज्ञान व्यक्ति सापेक्ष होता हैं चूंकि संवेदनाओं का स्वरूप स्थित नहीं है। अतः हमें किसी भी वस्तु का वास्तविक ज्ञान नहीं मिल सकता।

स्पष्ट है कि ग्रीक दर्शन से संषयवाद की प्रवृत्ति मिलने लगती है किन्तु आधुनिक दर्षन में इसका आरम्भ लॉक से माना जाता है जिसे तार्किक रूप से चरमोत्कर्श पर पंहुचाने का श्रेय डेविड ह्यूम को है। आधुनिक दर्षन में संषयवाद का उल्लेख डेकार्ट के चिंतन में मिलता है। किन्तु यह संषय सत्य ज्ञान की प्राप्ति का एक साधन है। डेकार्ट सत्य ज्ञान की सार्वभौमिकता एवं निष्चयात्मकता को स्वीकार करते हैं। इसलिए संदेह पद्धति को स्वीकार करने के बावजूद संषयवादी नहीं है।

बुद्धिवाद से भिन्न अनुभव को ही ज्ञान का एकमात्र आधार-स्वीकार करने वाली आधुनिक अनुभववादी प्रवृत्ति से संषयवाद स्वाभाविक रूप से सामने आता है। अनुभववादी दार्षनिक लाक ने जन्मजात प्रत्ययों का निराकरण करके समस्त ज्ञान को अनुभवजन्य स्वीकार करके ज्ञान का मूलस्रोत संवेदन एवं स्वसंवेदन को घोशित किया। उनके अनुसार आत्मा को किसी भी विशय का ज्ञान साक्षात रूप से नहीं बल्कि तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को मिला देते हैं। यह कहकर लॉक तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को मिला देते हैं जिसके फलस्वरूप अनका प्रत्यक्ष पर आधारित 'प्रत्यय प्रतिनिधि सिद्धांत' विसंगतियों से ग्रस्त हो जाता है।

लॉक संवेदन के स्रोत के रूप में बाह्य जगत की सत्ता सिद्ध करते हैं किन्तु संवेदन तक अनुभववाद को सीमित करने के कारण मूल द्रव्य को अज्ञेय कहते हैं। वस्तुतः लॉक के दर्षन में संवेदनों एवं स्वसंवेदनों को ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानना अनुभववाद की प्राथमिक भूल रहा है क्याोंकि इसके आधार पर अनिवार्य एवम् सार्वभौम ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

अनुभववादी चिंतन क्रम मंे लॉक के उपरान्त बर्कले की अनुभववादी प्रवृत्ति विकसित होती है जिसमें जड़द्रव्य का खण्डन किया गया है। बर्कले के अनुसार जब हमें वास्तविक वस्तु का कोई अनुभव प्राप्त नहीं है तो हम कैसे कह सकते हैं कि यह विषेश प्रत्यय, विषेश वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। बर्कले का आधार यह था कि हम केवल प्रत्यय को ही जानते हैं वास्तविक वस्तु को नहीं। इसलिए यदि लाक के प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद को माना जाय तो ज्ञान विशय और वास्तविक विशय में

द्वैत पैदा होगा, जिसका स्वाभाविक परिणाम संषयवाद ही होगा। किन्तु बर्कले द्वारा प्रत्यय को ही ज्ञान का विशय मान लेने से भ्रम एवं ज्ञान के बीच अन्तर करना कठिन हो जाएगा। पुनः उनके प्रत्ययवाद से ईष्वर, आत्मा आदि का ज्ञान संदिग्ध हो जाता है। यद्यपि बर्कले अन्तरबोध को स्वीकार करते हैं कि अनुभववादी विसंगतियों से वह बच नहीं पाते जिससे ह्यूम के दर्षन में 'संषयवाद' स्पश्ट रूप से उभरता है। फलतः कुछ दार्षनिक बर्कले को 'अपूर्ण ह्यूम' कहते हैं।

लॉक एवं बर्कले के उपरान्त अनुभववादी आधार पर ह्यूम का चिंतन विकसित होता है। ह्यूम एक मनोवैज्ञानिक अणुवादी दार्षनिक है जिनकी ज्ञानमीमांसा में समस्त ज्ञान संवेदन एवं सवसंवेदन द्वारा संस्कारों एवं प्रत्ययों से प्राप्त होते हैं। प्रत्येक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय से भिन्न है उनके मध्य पारस्परिक संबंध सहचर्य नियमों के आधार पर निर्धारित होता है जिसके माध्यम से प्राप्त ज्ञान को दो कोटियों में विभक्त किया गया है। प्रथम कोटि प्रत्ययों से संबंधित ज्ञान है एवं द्वितीय कोटि तथ्यों के ज्ञान से संबंधित है। प्रत्ययों से संबंधित गणित, तर्कषास्त्र आदि ज्ञान को ह्यूम सार्वभौमिक एवं अनिवार्य कहते हैं जबकि तथ्यों से संबंधित ज्ञान को अनिवार्य एवं सार्वभौम न मानकर सम्भाव्य माना जाता है।

इस प्रकार वाह्य जगत के तथ्यों से संबंधित ज्ञान को सम्भाव्य मानकर ह्यूम संषयग्रस्त कर देते हैं और इस क्रम में अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान का आधार कारणता सिद्धांत को भी खण्डित करते हैं। उनके अनुसार कारण कार्य सिद्धांत तार्किक अनिवार्यता पर आधारित न होकर मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता पर आधारित है इसमें एक घटना के बाद दूसरी घटना होती है जिसकी पुनरावृत्ति से एवं पूर्ववर्ती उत्तरवर्ती के संबंध से हमारे भीतर कारणता के प्रति अनिवार्यता का भाव पैदा होता है। अतः कारण- कार्य सिद्धांत सम्भावना पर आधारित है इसमें तार्किक अनिवार्यता नहीं होती।

इस आधार पर ह्यूम आगमन पर आधारित ज्ञान विषेशकर वैज्ञानिक सिद्धांतों का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार आगमन औचित्य रहित संकल्पना है। बुद्धि या

अनुभव के आधार पर इसके सामान्य निश्कर्शों के औचित्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता। ह्यूम का मानना है कि प्रकृति की एकरूपता एवं प्रासाम्भाव्यता का नियम भूतकाल के अनुभवों पर आधारित है अतः यह नियम स्वयं आगमन है इसलिए आगमन के आधार पर प्राप्त निश्कर्श संषयरहित नहीं हो सकता। इस प्रकार ह्यूम के चिंतन में वाह्य जगत आत्मा एवं ईष्वर का खण्डन हो जाता है एवं उनके विश में सदैव संषय की स्थिति बनी रहती है। ह्यूम स्वयं के ज्ञान सिद्धांत द्वारा कारणता वैज्ञानिक ज्ञान का आधार आगमन, वाह्य जगत, आत्मा एवं ईष्वर से संबंधित यथार्थ ज्ञान की सम्भावना पर प्रष्न चिन्ह लगाते हुए अपने सिद्धांत को संषयवाद में परिणित कर देते हैं। अर्थात् सत्ता के संबंध में यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। दूसरे षब्दों में वस्तुओं एवं तथ्यों के विशय में हमारा ज्ञान सम्भाव्य ही रहता है।

संशयवाद के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि क्या यह पूर्व के दार्षनिक चिंतन पर विकसित उग्र संषयवाद है? यथार्थ में ह्यूम ज्ञान को निष्चयात्मक अर्थ में लेते हैं। उनका संषयवाद ग्रीकदर्षन में विकसित उग्र संषयवाद सीमा पर बल देते हैं। वह जार्जियस या पाइरो की तरह ज्ञान को असम्भव नहीं मानते। वह केवल इतना कहते हैं कि वस्तुओं एवं तथ्यों के विशय में हमारा ज्ञान सम्भाव्य ही है अर्थात् केवल विष्वास के विशय जिसे प्रक्रिया द्वारा असंदिग्ध रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ह्यूम ने स्वयं स्वीकार किया है कि वे पाइरो की तरह संषयवादी नहीं हैं। वस्तुतः ह्यूम दार्षनिक दृश्टि से ही संषयवादी है, व्यवहारिक रूप से नहीं।

12.6 ह्यूम के दर्शन की समीक्षा

1. ह्यूम का ज्ञान सिद्धांत अनुभववाद की पराकाश्ठा का उदाहरण है यद्यपि यह आलोचना का विशय रहा है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक षोघों से यह सिद्ध हो चुका है कि ज्ञान हमें संघात के रूप में प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्षों एवं प्रत्ययों को पृथक-पृथक मानना अनुभववाद की उपेक्षा करना है। विलियम जेम्स ने संवेदन एवं अनुभव का गहन अध्ययन करके कहा है कि हमें अनुभव एवं सेवेदन प्रवाह रूप में प्राप्त होते

हैं। यहां जेम्स का कथन महत्वपूर्ण है कि लॉक, वर्कले, ह्यूम अनुभववादी नहीं है क्योंकि यह सभी प्राग्नुभविक विचारों से प्रभावित हैं।

2. आलोचकों के अनुसार ह्यूम का यह सत् तार्किक नहीं है कि प्रत्येक संस्कार से कोई विशेश प्रत्यय प्राप्त होते हैं। अब यह सिद्ध हो चुका है कि प्रत्यय समान्य होते हैं। किसी वस्तु का अनुभव करते समय उसकी विषेशताओं को अलग-अलग रूप में संचित नहीं कर सकते। यदि ह्यूम कहते हैं कि हमारी कल्पना इस कमी को पूरा कर देती है जिसका संस्कार न मिला हो।

3. समीक्षकों के अनुसार कारणता ही व्याख्या के लिए निकटता का संबंध आवष्यक नही है। हम जिस तारे को आज देख रहे हैं हो सकता है कि आज वह उस विषेश स्थान पर न हो क्योंकि प्रकाष को हम तक पंहुचने में कई वर्श लग जाते हैं। यद्यपि बाद में ह्यूम ने दैषिक निकटता को अपने सिद्धांत से हटा दिया था फिर भी उसकी कारणता की व्यख्या संतोशजनक नहीं है।

4. कारणता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी समस्या से ग्रस्त है। रसेल के अनुसार यदि एक घटना के बाद दूसरी घटना हो रही है तो उसका आधार कारणता ही है। जगत के विशय में जो समस्या ह्यूम उठाते हैं उसे मनोवैज्ञानिक संबंत तक सीमित करना अतार्किक है।

5. समीक्षावादी दार्षनिक काण्ट भी ह्यूम के अधिकांष विचारों से सहमत हैं किन्तु वे कारणता की व्याख्या बुद्धि के आधार पर करते हैं। काण्ट के अनुसार ह्यूम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि क्यों 'अ' के बाद 'ब' घटित होता है यह नियम इसलिए है क्योंकि यह घटनायें पहले से ही कारणता के नियमानुसार घटित होती है।

6. आगमन की समस्या के साथ यह प्रष्न उठता है कि क्या इसका स्वरूप तार्किक है यह फिर क्या इसका समाधान संभव है? समकालीन दार्षनिक स्ट्रान्सन के अनुसार हम विषेश आगमनात्मक कथनों के औचित्य को आगमन आधार पर सिद्ध करते हैं। अब यदि ह्यूम यह प्रष्न करते हैं कि आगमन का औचित्य क्या है तो यह

एक गलत प्रष्न है। स्ट्रान्सन के अनुसार यदि हम ह्यूम के तर्कों को मान लेते हैं तो इसका कोई समाधान सम्भव नहीं है।

7. ह्यूम के आगमनात्मक सिद्धांत पर एच.जे. एअर का मत है कि ह्यूम आगमन को निगमन के आधार पर सिद्ध करना चाहते हैं जो कि ठीक नहीं है। ह्यूम बिल्ली को इसलिए दण्ड देते हैं क्योंकि वह कुत्ता क्यों नहीं है। ह्यूम के आगमनात्मक चिंतन की कमियों को रसेल ज्ञान के दिवालिएपान के रूप में व्यख्यायित करते हैं।

12.7 सारांश

अगर हम ह्यूम के कारण कार्य सिद्धांत की विवेचना के अनुसार चलें तो हम पाएंगे कि व्यावहारिक जीवन को ठीक प्रकार से हम नियमित नहीं कर पाएंगे। क्योंकि उनका मानना है कि कारण तो है लेकिन उसके बाद कोई निश्चित कार्य होगा यह नहीं कहा जा सकता। क्यों ? क्योंकि ह्यूम के अनुसार उनके बीच केवल सांयोगिक संबंध होता है। ह्यूम कहीं ना कहीं कारण कार्य सिद्धांत की व्याख्या करने में असंगत हो जाते हैं क्योंकि वह प्राकृतिक घटनाओं के संबंधों के बीच कारण कार्य को संयोगिक बताते हैं और मानसिक घटनाओं के संबंध में वह अनिवार्यता को लागू करते हैं। अब क्योंकि मानसिक घटनाएं भी प्राकृतिक घटनाओं के समान ही तथ्य हैं अतः मानसिक घटनाओं को भी हमें संयोगिक ही मानना पड़ेगा और तब स्थिति और खराब हो जाएगी । जगत में बहुत सी घटनाएं होती हैं जिनमें हम पुनरावृत्ति देखते हैं लेकिन इनके बीच कारण कार्य संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता।

ह्यूम कारण कार्य को आनुभविक मानते हैं परंतु हम देखते हैं कि कांट इसे बुद्धि के विकल्प के रूप में स्वीकार करते हैं और इसे अनिवार्य नियम मानते हैं

12.8 बोध प्रश्न

1. आगमन की समस्या क्या है समझाइए।

2. ह्यूम किस प्रकार से कारणता की आलोचना करते हैं विवेचना कीजिए।

12.9 उपयोगी पुस्तक एवं संदर्भ ग्रंथ

1.पाश्चात्य दर्शन का उद्भव और विकास - डॉ हरिशंकर उपाध्याय, अनुशीलन प्रकाशन, प्रयागराज ।

2.पाश्चात्य दर्शन - चंद्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

3.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास - या० मसीह, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।

4.पाश्चात्य दर्शन का इतिहास - डॉ० दया कृष्ण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

5.पाश्चात्य दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण - डी० आर० जाटव, मलिक एण्ड कंपनी, जयपुर।

खण्ड परिचय

समीक्षावाद के जनक इमैनुएल काण्ट विश्व के महानतम दार्शनिकों में से एक हैं जो महत्ता प्लेटो और अरस्तू को ग्रीक दर्शन में प्राप्त है वही महत्ता काण्ट को पाश्चात्य दर्शन में प्राप्त है। उन्होने तत्समय प्रचलित बुद्धिवाद एवं अनुभववाद की समीक्षा के उपरान्त उन्हें एकांगी एवं आंशिक सत्य पाया और दोनों का समन्वय अपने समीक्षावाद में करने का कार्य किया। काण्ट के दर्शन पर वुल्फ एवं लाइबनित्ज के बुद्धिवादए लाक एवं ह्यूम के अनुभववादए रूसो के भावुकतावाद एवं न्यूटन के भौतिकी के सिद्धांतों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। ह्यूम के संशयवाद के प्रभाव से ज्ञान को बचाने के लिए उन्होंने ज्ञान को अनिवार्यताए सार्वभौमिकता एवं नवीनता से युक्त माना। इस सम्बन्ध में संश्लेष्णात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना का सिद्धांत प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। द्वैतवाद एवं अज्ञेयवाद काण्ट के दर्शन के प्रमुख दोष हैं। किन्तु इन दोषों के बावजूद काण्ट की कीर्ति एवं महनीयता कम नहीं होती है। काण्ट के परवर्ती दार्शनिकों पर उनकी गहरी छाप है।

इकाई–13 आलोचनावाद

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 आलोचनावाद की पृष्ठभूमि

13.3 आलोचनावाद का अर्थ

13.4 आलोचनावाद की विशेषताएं

13.5 आलोचनावाद, बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का समन्वय है।

13.6 आलोचनावाद का मूल्यांकन

13.7 शब्दावली

13.8 प्रश्नावली

13.9 उपयोगी पुस्तकें

****

13.0 उद्देश्य

काण्ट का दर्शन आलोचनात्मक दर्शन है। आलोचना का सामान्य अर्थ खण्डन, गुण–दोष का विवेचन और मूल्यांकन होता है किन्तु काण्ट की कृतियों में आलोचना का यह अर्थ नहीं है। यह सामान्य ज्ञान-शक्ति या बुद्धि की आलोचना है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की सहायता के बिना बुद्धि जिस ज्ञान प्रकाश का अनुसंधान कर सकती है उनकी यह विवेचना है। इस प्रकार आलोचनावाद का उद्देश्य युक्तियुक्त ढंग से मानव बुद्धि की सीमा का निर्धारण करना है।

13.1 प्रस्तावना

किसी भी क्षेत्र में किसी भी विषय या समस्या के सन्दर्भ में युक्तियुक्त निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए व्यवस्थित प्रणाली, पद्धति या विधि का विशेष महत्त्व होता है क्योंकि यही वह मार्ग है जो निष्कर्ष को तार्किक, युक्तियुक्त एवं औचित्यपूर्ण सिद्ध करता है। इससे निष्कर्ष प्रमाणित एवं विश्वसनीय हो जाता है। दर्शन के क्षेत्र में भी विचारों की व्यवस्थित एवं तार्किक प्रस्तुति के लिए इस पद्धति का विशेष महत्त्व है। काण्ट द्वारा अपने विचारों की सम्यक प्रस्तुति के लिए तत्समय प्रचलित पद्धतियों–बुद्धिवाद एवं अनुभववाद से भिन्न एक नवीन पद्धति का अनुसरण किया गया। पाश्चात्य दर्शन में इस पद्धति को आलोचनावाद या समीक्षावाद के नाम से जाना जाता है। काण्ट का दावा है कि यह पद्धति अपनी पूर्ववर्ती पद्धतियों के दोषों से मुक्त है।

13.2 आलोचनावाद की पृष्ठभूमि

काण्ट के दर्शन के आविर्भाव से पूर्व पाश्चात्य दर्शन में प्रमुख रूप से प्रचलित दार्शनिक पद्धतियाँ बुद्धिवाद और अनुभववाद थी। बुद्धिवाद ज्ञान को अनिवार्य एवं सार्वभौम मानता है तथा ज्ञान प्राप्ति के एकमात्र स्रोत के रूप में बुद्धि को स्वीकार करता है। यह मानता है कि बुद्धि में ज्ञान प्राप्त करने की असीम क्षमता है और बुद्धि में जन्मजात रूप से ज्ञान निहित होता है। यह तर्क की निगमनात्मक विधि को विशेष महत्त्व देता है। बुद्धिवाद इन्द्रियानुभव की उपेक्षा करता है जिससे ज्ञान में यथार्थता एंव नवीनता का समावेश नहीं हो पाता है और अन्ततः बुद्धिवाद रूढ़िवाद की ओर अग्रसर हो जाता है। अनुभववाद ज्ञान को यथार्थता एवं नवीनता के गुणों से युक्त मानता है तथा ज्ञान प्राप्ति के एकमात्र स्रोत के रूप में इन्द्रियानुभव को स्वीकार करता है। यह तर्क की आगमनात्मक विधि को विशेष महत्त्व देता है। अनुभववाद ज्ञान प्राप्ति में बुद्धि को निष्क्रिय मानता है, जिससे ज्ञान में अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता का समोवश नहीं हो पाता है। अतः इन्द्रियानुभव से प्राप्त ज्ञान संभाव्य होता है, जिससे अनुभववाद की तार्किक परिणति संशयवाद में होती है।

दोनों विचारधाराओं की मान्यताएँ, दिशाएँ एवं प्रणालियाँ भिन्न थीं, जिससे दोनों विचारधाराओं में दीर्घकाल तक एक दूसरे का खण्डन–मण्डन का दौर चलता रहा। दोनों ही विचारधाराओं के पक्ष विपक्ष में समान रूप से प्रबल तर्क विद्यमान थे, जिससे किसी को निर्णायक बढ़त की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। दोनों ही यह मान चुके थे कि ज्ञान प्राप्ति हेतु उनका ही ज्ञान एकमात्र है। केवल उनकी ही दार्शनिक प्रणाली का अनुसरण करके ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है। इस क्रम में दोनों ने अपने मार्ग एवं प्रणाली का कभी निरीक्षण करना भी उचित नहीं समझा कि जिस प्रणाली का अनुसरण कर हम अन्तिम रूप से ज्ञान प्राप्ति का दावा कर रहे हैं उस प्रणाली में ज्ञान प्राप्ति की ऐसी सामर्थ्य है भी यह नहीं। बुद्धिवादियों ने कभी बुद्धि एवं अनुभववादियों ने कभी इन्द्रियानुभव की क्षमताओं को जांचने का प्रयास नहीं किया।

काण्ट ने बुद्धिवाद एवं अनुभववाद के सम्यक अध्ययन के उपरान्त पाया कि दोनों हठवाद एवं एकांगिकता के दोष से ग्रस्त हैं। काण्ट के अनुसार ज्ञान के स्वरूप, स्रोत, वैधता और ज्ञान की सेवाओं का मूल्यांकन किए बिना केवल बुद्धि या केवल अनुभव को ज्ञान का स्रोत एवं प्रतिमान मान लेना उचित नहीं है। इस पूर्वाग्रह के कारण ही बुद्धिवाद ने रूढ़िवाद और अनुभववाद ने संशयवाद को जन्म दिया। रूढ़िवाद एवं संशयवाद से बचने के लिए काण्ट समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर ज्ञान के स्वरूप एवं प्रामाण्य का विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन करता है। काण्ट तत्त्व–चिंतन के लिए एक सामर्थ्यवान प्रणली की खोज का प्रयास करता है जो परम्परागत प्रणालियों के दोषों से मुक्त हो तथा ज्ञान में अनिवार्यता, सार्वभौमिकता के साथ यथार्थता एवं नवीनता का भी समावेश करे।

इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु काण्ट ने सर्वप्रथम बुद्धि एवं इन्द्रियानुभव की क्षमताओं को जांचने का कार्य किया। काण्ट ने बुद्धि के सम्प्रत्ययों की परीक्षा के लिए 'शुद्ध बुद्धि की समीक्षा' नामक शीर्षक से ग्रन्थ की रचना की, जिसमें बुद्धि की क्षमताओं का परीक्षण करने का कार्य किया। तदुपरान्त काण्ट ने ऐसी क्षमता से मुक्त प्रणाली के रूप में आलोचनावाद या समीक्षावाद को प्रस्तुत किया।

13.3 आलोचनावाद का अर्थ

आलोचना का सामान्य अर्थ किसी सिद्धांत या विचार का खण्डन करने, गुण दोष के आधार पर उसकी विवेचना करने या मूल्यांकन करने से है। काण्ट के आलोचनावाद के सन्दर्भ में देखा जाये तो आलोचना के उपर्युक्त अर्थ समीचीन प्रतीत नहीं होते हैं। काण्ट द्वारा रचित तीनों कृतियों के शीर्षकों में आलोचना शब्द का प्रयोग किया गया है। 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' एवं 'निर्णय की आलोचना'। इन कृतियों में काण्ट ने शुद्ध बुद्धि, व्यावहारिक बुद्धि या निर्णय का खण्डन भी नहीं किया है। इनका गुण दोष के आधार पर मूल्यांकन भी नहीं किया है और न ही ये कृतियाँ किसी सिद्धांत या ग्रन्थ की आलोचना में रची गयी हैं। 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' के प्राक्कथन में काण्ट स्वयं कहते हैं –इससे (आलोचना) मेरा तात्पर्य पुस्तकों और दार्शनिक मतों की आलोचना नहीं है अपितु सामान्य ज्ञान शक्ति या बुद्धि की आलोचना है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की सहायता के

बिना बुद्धि जिन समस्त ज्ञान प्रकारों का अनुसंधान कर सकती है, उनकी यहाँ विवेचना की गयी है। तत्त्व ज्ञान संभव है या असंभव?

काण्ट का आलोचनावाद एक ज्ञानमीमांसीय प्रणाली है। यह एक छानबीन है जो समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त है। काण्ट दार्शनिक चिंतन के क्रम में कुछ भी पूर्व रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनका उद्देश्य आलोचनावाद के माध्यम से उसका उद्देश्य ज्ञान की प्रक्रिया में अनिवार्यरूप से आवश्यक मूलभूत तत्त्वों और शर्तों की खोज करना है। काण्ट बुद्धि को समस्त विषयों के ज्ञाता के रूप में स्वीकार करते हैं। साथ ही उनका मानना है कि बुद्धि आत्मपरीक्षण की क्षमता से युक्त है। किसी भी दार्शनिक सृजन से पहले बुद्धि द्वारा आत्म-परीक्षण अनिवार्य है ताकि बुद्धि के सबल एवं निर्बल पक्षों को भलीभाँति ज्ञात किया जा सके। इसके अभाव में दर्शन के हठवाद में परिवर्तित होने की संभावनाएं प्रबल हो जाती हैं। काण्ट ने यह भी बताया कि बुद्धि एवं इन्द्रियानुभव से केवल प्रकृति/बाह्य जगत का ही ज्ञान संभव है। अतीन्द्रिय सत्ताएं इन्द्रियानुभव के अभाव में ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है। यहाँ काण्ट ज्ञान की सीमाओं का भी स्पष्ट उल्लेख करते हैं।

काण्ट के आलोचनावाद में बुद्धि विकल्पों की अहं भूमिका है। बुद्धि विकल्प ज्ञान की प्रागनुभविक प्रागपेक्षाएं हैं। बुद्धि विकल्प अनुभव का विषय नहीं है। इसलिए काण्ट इन्हें अतीन्द्रिय कहते हें। जब देश काल की प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारों के माध्यम से संवेदन प्राप्त होते हैं तो बुद्धि इन्हें अपनी कोटियों के द्वारा व्यवस्थित एवं नियमित कर ज्ञान में बदलती है। अतः हमारा ज्ञान वैसा ही होगा जैसा बुद्धि विकल्प निर्मित करेंगे। इसी सन्दर्भ में काण्ट की प्रसिद्ध उक्ति है–'बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है।' (Understanding makes Nature)। यहाँ काण्ट वस्तु-केन्द्रित ज्ञान की प्रचलित अवधारणा को बुद्धि केन्द्रित अवधारणा में बदल देते हैं। इसे दर्शन जगत में 'कोपरनिकसीय क्रांति' के रूप में जाना जाता है। यह एक ज्ञान मीमांसीय सिद्धांत है न कि तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत क्योंकि बुद्धि ज्ञान के स्तर पर प्रकृति का निर्माण करती है।

इस प्रकार आलोचनावाद में काण्ट बुद्धिवाद एवं अनुभववाद के सबल पक्षों का समावेश करते हैं, जिससे आलोचनावाद के रूप में एक समन्वित दार्शनिक पद्धति का विकास हुआ और बुद्धिवाद एवं अनुभववाद में व्याप्त अन्तर्विरोधों के साथ दोनों के बीच का संघर्ष भी समाप्त हो गया।

13.4 आलोचनावाद की विशेषताएं

आलोचनावाद, बुद्धिवाद एवं अनुभववाद के दोषों को दूर करते हुए और इनके सबल पक्षों के समावेश से निर्मित दार्शनिक पद्धति है। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित है–

(1) आलोचनावाद ज्ञान के लक्षण के रूप में अनिवार्यता, सार्वभौमिकता, वास्तविकता एवं नवीनता को स्वीकार करती है। ज्ञान में अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता बुद्धि विकल्पों से आती है तथा वास्तविकता एवं नवीनता इन्द्रियानुभव से आती है।

(2) आलोचनात्मक ज्ञान प्राप्ति के स्रोत के रूप में बुद्धि एवं इन्द्रियानुभव दोनों की भूमिका को स्वीकार करता है। ज्ञान का आरम्भ इन्द्रियानुभव (इन्द्रिय संवेदन) से होता है तथा ज्ञान को व्यवस्थित स्वरूप बुद्धि विकल्पों द्वारा दिया जाता है।

(3) आलोचनावाद के अनुसार मानवीय ज्ञान की सीमाएं हैं। मानव-बुद्धि द्वारा जागतिक विषयों का ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, अतीन्द्रिय सत्ता या परमार्थ का ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि ज्ञान के लिए इन्द्रिय संवेदन अनिवार्य है और इन्द्रिय-संवेदन जागतिक वस्तुओं के ही प्राप्त होते हैं। परमार्थ के इन्द्रिय संवेदन प्राप्त नहीं होते हैं। अतः परमार्थ अज्ञेय है। इसका तात्पर्य है कि मानव ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक इत्यादि अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। इससे काण्ट के दर्शन में अज्ञेयवाद का दोष (Fallacy of Agnosticism) आ जाता है।

(4) काण्ट ज्ञान को बुद्धि-केन्द्रित मानते हैं। इस सन्दर्भ में उनकी उक्ति है कि 'बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है।' यह ज्ञानमीमांसीय स्थापना है क्योंकि हमें प्रकृति का वैसा ही ज्ञान होता है जैसा बुद्धि द्वारा निर्मित होता है।

13.5 आलोचनावाद, बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का समन्वय है।

काण्ट आलोचनावाद के प्रतिपादन से पूर्व बुद्धिवाद एवं अनुभववाद की परीक्षा करते हैं। इस क्रम में वे बुद्धिवाद के कुछ निर्बल पक्षों को उजागर करते हैं। उनके अनुसार बुद्धिवादियों ने दर्शन को गणित की नींव पर स्थापित करने का प्रयास किया। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि गणित का सम्बन्ध अमूर्त प्रत्ययों से है। जिसका वस्तु जगत या वास्तविकता में कोई सम्बन्ध नहीं होता है जबकि दर्शन का सम्बन्ध वस्तु - जगत से है। इस प्रकार गणित की अमूर्तता एवं दर्शन की वास्तविकता के मध्य सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है।

बुद्धिवादी शुद्ध बुद्धि के सम्प्रत्ययों के आधार पर इन्द्रियानुभव की उपेक्षा कर इन्द्रियातीत विषयों का भी ज्ञान प्राप्ति का दावा करते हैं, वहीं अनुभववादी इन्द्रियानुभव को ज्ञान प्राप्ति का असीम साधन मानकर बुद्धि की तुलना कोरे कागज से करते हैं जिस पर अनुभव से ज्ञान अंकित होता है। अनुभववादी कारणता जैसे वैज्ञानिक सिद्धांतों में भी आन्तरिक सम्बन्ध की अनिवार्यता का निषेध करते हैं। वे कारणता को मनोवैज्ञानिक विश्वास घोषित करने का प्रयास करते हैं। काण्ट ने ज्ञान की सृष्टि के क्रम में शुद्ध सम्प्रत्यय और इन्द्रियानुभव दोनों के योगदान को स्वीकार किया है। काण्ट कहते हैं कि ज्ञान की सामग्री इन्द्रियानुभव से प्राप्त होती है जो अस्त-व्यस्त विश्रृंखल एवं क्षणिक होती है। काण्ट इन्हें इन्द्रिय संवेदन कहते हैं। बुद्धि देश-काल के माध्यम से प्राप्त इन इन्द्रिय-संवेदनों को बुद्धि-विकल्पों के द्वारा व्यवस्थित एवं नियमित करती है। इस प्रक्रिया से गुजर कर ज्ञान का निर्माण होता है।

इस प्रकार ज्ञान के निर्माण में बुद्धि एवं इन्द्रियानुभव दोनों का समान महत्त्व है। किसी एक के भी अभाव में ज्ञान की सृष्टि सम्भव नहीं ज्ञान के सृजन में बुद्धि एवं इन्द्रियानुभव की भूमिका को स्पष्ट करते हुए काण्ट कहते हैं कि 'बुद्धि के बिना इन्द्रिय संवेदन अंधे हैं जबकि इन्द्रिय संवेदनों के बिना बुद्धि पंगु (निष्क्रिय) है।' वस्तुतः बुद्धि मधुमक्खी के समान है। जिस प्रकार मधुमक्खी फूलों से रस प्राप्त करके उसे शहद में रूपान्तरित करती है। उसी प्रकार बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय-संवेदनों से प्राप्त सामग्री को ज्ञान का आकार प्रदान करते हैं। अन्ततः कहा जा सकता है कि ज्ञान का प्रारंभ इन्द्रिय-संवेदनों से होता है और पूर्णता बुद्धि -विकल्प से प्राप्त होती हैं अतः आलोचनावाद बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का समन्वय है।

13.6 आलोचनावाद का मूल्यांकन

काण्ट ने अपने आलोचनावाद का प्रतिपादन पूर्व प्रचलित दार्शनिक पद्धतियों के परीक्षण के उपरान्त किया किन्तु आलोचनावाद भी स्वयं आलोचना का विषय बन गया। आलोचनावाद के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियां उठायी जाती हैं–

1. काण्ट ने ज्ञान को अनिवार्य, सार्वभौम, यथार्थ एवं नवीन माना है। यहाँ ज्ञान की नवीनता एवं यथार्थता की व्याख्या तो इन्द्रियानुभव के आधार पर की जा सकती है, किन्तु अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता की व्याख्या इन्द्रियानुभव के आधार पर नहीं की जा सकती है। ज्ञान के अनिवार्य एवं सार्वभौम गुण की व्याख्या के लिए इनका कारण बुद्धि के स्वरूप एवं संरचना को मानना पड़ेगा।

2. काण्ट का दर्शन अज्ञेयवाद के दोष से ग्रसित है क्योंकि काण्ट ज्ञान के लिए इन्द्रियानुभव एवं बुद्धि विकल्प दोनों को अनिवार्य मानते हैं। इन्द्रियानुभव के अभाव में ज्ञान की सृष्टि नहीं हो सकती है

किन्तु अतीन्द्रिय सत्ताओं जैसे ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक इत्यादि विषयों के इन्द्रिय संवेदन प्राप्त नहीं होते हैं। अतः इनके ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती है।

3. काण्ट इन्द्रियानुभव से ज्ञान के आरंभ की बात करते हैं जबकि बुद्धि-विकल्पों एवं देशकाल को अनुभव की प्रागपेक्षा के रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ बुद्धि विकल्प मानवीय बुद्धि के प्रागनुभविक आकार हैं तथा देश–काल प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वार हैं, जिनके द्वारा बुद्धि इन्द्रिय-संवेदनों को ग्रहण करती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काण्ट के आलोचनावाद ने दर्शन को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। एक ओर जहाँ आलोचनावाद ने बुद्धिवाद एवं अनुभववाद को दोषों को दूर करने और दोनों के अच्छे गुणों को समन्वित करने का कार्य किया तो वहीं दूसरी ओर ज्ञान को वस्तु केन्द्रित से बुद्धि केन्द्रित सिद्ध कर दर्शन के क्षेत्र में कोपरनिकसीय क्रांति करने का भी कार्य किया। एडवर्ड केयर्ड के शब्दों में 'आलोचनावाद वह प्रक्रिया है जो रूढ़िवाद एवं संशयवाद का समन्वय करती है और फिर भी इन दोनों से भिन्न है।

13.7 शब्दावली

परमार्थ (Niumena)– जो अनुभव की सीमा से परे है।

अतीन्द्रिय (Transcendental)– इन्द्रियों से परे है।

13.8 प्रश्नावली

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1 आलोचनावाद का क्या अर्थ है?

2 आलोचनावाद की पृष्ठभूमि की चर्चा करें।

3 आलोचनावाद की प्रमुख विशेषताएँ बताएं।

4 आलोचनावाद को पारिभाषित करते हुए इसके विरुद्ध आपत्तियों को दर्ज करें।

दीर्ध-उत्तरीय प्रश्न

1 आलोचनावाद पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखें।

2 आलोचनावाद, बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का समन्वय है, सविस्तार वर्णन करें।

13.9 उपयोगी पुस्तकें

1 काण्ट का दर्शन : सभाजीत मिश्र

2 काण्ट का दर्शन : संगल लाल पाण्डेय

3 पाश्चात्य दर्शन का उद्‌भव और विकास : हरिशंकर उपाध्याय

इकाई 14 : देश काल, बुद्धि की कोटि, प्रज्ञा

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 देश–काल का अर्थ
14.3 देश–काल संबंधी न्यूटन का मत
14.4 देश–काल संबंधी लाइबनीज का मत
14.5 देश–काल संबंधी काण्ट का मत
14.6 काण्ट द्वारा देश–काल का निगमन
14.7 देश–काल का तात्त्विक निगमन
14.7.1 देश–काल अनुभव जन्य नही है
14.7.2 देश–काल प्रागनुभविक हैं
14.7.3 देश–काल सामान्य प्रत्यय नही है
14.7.4 देश–काल अनंत एवं अखण्ड है
14.8 क्या रिक्त देश एवं रिक्त काल संभव है
14.9 क्या देश–काल का तात्त्विक निगमन सुसंगत है
14.10 बुध्दि विकल्प की परिभाषा
14.11 बुध्दि के कार्य
14.12 निर्णय की परिभाषा
14.13 निर्णयों के प्रकार
14.14 बुध्दि विकल्पों के प्रकार
14.15 बुध्दि विकल्पों की विशेषताएँ
14.16 बुध्दि विकल्पों की अवधारणा का मूल्यांकन
14.17 संवृत्ति का आशय
14.18 परमार्थ का अर्थ
14.19 संवृत्ति एवं परमार्थ में भेद
14.20 स्वलक्षण वस्तु सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्तियाँ

14.21 भ्रान्ति का तर्काभास

14.22 अनुभवावीत भ्रांति

14.23 अनुभवातील भ्रांति का अधिष्ठान – प्रज्ञा

14.24 तर्क बुद्धि एवं प्रज्ञा में भेद

14.25 शब्दावली

14.26 प्रश्नावली

14.27 उपयोगी पुस्तकें

.....000.....

14.0 उद्देश्य -

'देश काल का तात्त्विक निगमन' इकाई के अन्तर्गत काण्ट द्वारा देश–काल संबंधी पूर्ववर्ती मतों की समीक्षा करते हुए अपने देश–काल के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। तदुपरांत देश–काल की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या या तात्त्विक निगमन प्रस्तुत किया गया है। इस संदर्भ में काण्ट द्वारा प्रस्तुत चारो प्रमाणों का सविस्तार वर्णन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया गया है।

14.1 प्रस्तावना –

काण्ट संवेदन शक्ति के विवेचन के क्रम में देश काल के स्वरूप की व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि हमारा समस्त ज्ञान, ज्ञान सामग्री के स्तर पर संवेदनों से प्रारंभ होता है। संवेदनों से प्राप्त सामग्री को बुद्धि विकल्पों द्वारा व्यवस्थित एवं नियमित कर ज्ञान का स्वरूप दिया जाता है। वाह्य जगत से प्राप्त संवेदना देश–काल रूपी प्रत्यक्ष आकारों से होकर बुद्धि द्वारा ग्रहण की जाती है। मानवीय बुद्धि ऐसे विषयों की संवेदना प्राप्त नहीं कर सकती है जो देश–काल में अस्तित्त्ववान न हों। काण्ट देश–काल की व्याख्या तात्त्विक एवं अतीन्द्रिय आधारों पर करते हैं किन्तु इससे पूर्व वे देश–काल के संबंध में अपने पूर्ववर्ती मतों की समीक्षा करते हैं।

14.2 देश–काल का अर्थ –

काण्ट देश (Space) एवं काल (Time) के संदर्भ में अपना मत प्रतिपादित करने से पूर्व देश–काल के संबंध में प्रतिपादित अपने पूर्ववर्ती मतों पर विचार करते हैं। इसमें भौतिक विज्ञानी आइजैक न्यूटन एवं बुद्धिवादी विचारक लाइनीज का विचार शामिल है। काण्ट दोनों मतों की समीक्षा करने के बाद अपना विचार प्रस्तुत करते हैं। उपर्युक्त तीनों मत इस प्रकार हैं–

14.3 देश–काल संबंधी न्यूनटन का मत –

न्यूटन देश–काल को निरपेक्ष सत् मानते हैं। न्यूटन देश की चार विमाओं की बात करते हैं, जिनमें काल भी एक विमा है। अन्य तीन विमाएँ –लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई है। देश–काल वस्तुओं को धारण करते हैं अर्थात् सभी वस्तुएँ देश–काल में ही अस्तित्त्ववान होती है। देश–काल के अभाव में वस्तुओं का अस्तित्त्व संभव है किन्तु देश–काल के अस्तित्त्व के लिए वस्तुओं का अस्तित्त्ववान होना अनिवार्य नही है। यहाँ वस्तुओं का अर्थ देश–काल के सापेक्ष है जबकि देश–काल का अस्तित्त्व निरपेक्ष है। इस प्रकार देश–काल नित्य, विभु, अनन्त एवं निरपेक्ष द्रव्य है। देश–काल असीम है जिसमें सभी वस्तुएँ समाहित हैं।

काण्ट न्यूटन के मत से असहमति व्यक्त करते हुए अपनी कृति 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' (Critique of Pure Reason) में कहते हैं कि 'जो लोग यह मानते हैं कि देश–काल स्वाधीन और निरपेक्ष सत् है वो नित्य एवं अनन्त अभावों का मानते हैं काण्ट कहते हैं कि निरपेक्ष देश–काल द्रव्य नहीं हो सकते हैं। अतः देश–काल को अभाव मानना पड़ेगा किन्तु इन्हें अभावात्मक द्रव्य मानना व्याघाती (Contradictary) है।

पुनः न्यूटन ईश्वरवाद में भी विश्वास रखते है। यदि देश– काल नित्य, अनन्त एवं निरपेक्ष मान लिया जाये तो यह ईश्वरवादी धारणा के विरुद्ध होगा जो यह मानती है कि सभी द्रव्यों का अंतिम कारण ईश्वर है।

इस प्रकार न्यूटन के देश–काल सिद्धांत एवं ईश्वरवाद में अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाता है, जिसका समाधान करने का प्रयास लाइबनीज करते हैं।

14.4 देश काल संबंधी लाइनीज का मत –

लाइबनीज के मतानुसार देश–काल प्रपंचों (Phonomena) आभासों(Appearances) या प्रतिबिम्बों (Re Presentation) के संबंध है।। ये वस्तु के समान सत् न होकर बौद्धिक प्रत्यय है। देश–काल संवेदन है और ये वास्तविक वस्तुओं के शुद्ध प्रत्यय हैं। देश–काल अस्पष्ट या भ्रान्त प्रत्यय है। काण्ट लाइबनीज के देश–काल विचार से असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि संवेदन एवं प्रत्यय में मात्रात्मक अन्तर न होकर प्रकारता का अंतर है। वे या तो संवेदन है या प्रत्यय है। संवेदनों का अस्पष्ट प्रत्यय कहना भ्रम है।

14.5 देश काल संबंधी काण्ट का मत –

देश–काल संबंधी काण्ट का मत न्यूटन एवं लाइबनीज के देश–काल विचारों का समन्वय है। काण्ट के अनुसार देश–काल को आभास का आकार (Form of Appearances), संवेदना के आकार (Farm of Sensibility), प्रत्यक्ष के आकार (Form of intuition) और कुछ प्रागनुभविक प्रत्यक्ष (Pure mtuition) हैं। 'आभास का आकार' से तात्पर्य है कि प्रत्येक आनुभविक विषय देश–काल के संबंधों के अन्तर्गत व्यवस्थित हो सकता है। संवदेना के आकार का अर्थ देश–काल हमारी मानवीय संवेदना की प्रकृति में निहित है। इन्द्रियानुभव के पूर्व ये मन की संवेदना–शक्ति में अव्यक्त रूप में रहते हैं तथा जब इन्द्रियानुभव घटित होता है त्योंही वो उसकी घटना के व्यक्त आकार को स्वयं धारण कर लेते हैं। इस प्रकार देश–काल मन द्वारा इन्द्रियानुभविक विषयों पर आरोपित किए जाते हैं। 'प्रत्यक्ष के आकार' से तात्पर्य देश–काल की आभास के आकार या संवदेना के आकार में निश्चित होना है। शुद्ध प्रत्यक्ष के एकाधिक अर्थ है जिसमें प्रत्यक्ष के आकार को उसकी सामग्री से अलग करने पर शुद्ध प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। इसके साथ ही शुद्ध प्रत्यक्ष स्वयं प्रत्यक्ष की सामग्री भी है।

देश–काल को शुद्ध प्रत्यक्ष मानना काण्ट का आलोचनावाद है। शुद्ध संवेदना नाम का कोई अनुभव नहीं है क्योंकि प्रत्येक संवेदना में बुद्धि का अनिवार्य योगदान होता है।

वास्तव में काण्ट देश और काल को ऐसे संस्थान मानता है जिनके प्रतिबिम्ब नहीं हो सकते किन्तु जिनके बिम्ब सम्भव है। उदाहरण के लिए हम देश को उस तरह नहीं प्रत्यक्ष कर सकते हैं जिस तरह एक मेज को करते हैं। किन्तु देश में स्थित सभी वस्तुओं को हटाकर हम अपने मन में देश का बिम्ब रख सकते हैं। यह बिम्ब ही इन्द्रियगोचर विषय की संवेदना की अनिवार्य शर्त है।

14.6 काण्ट द्वारा देश–काल का निगमन –

काण्ट देश–काल सिद्धांत की दो व्याख्याएँ या निगमन प्रस्तुत करते हैं– देश–काल का तात्त्विक या तत्त्वमीमांसीय निगमन एवं देश–काल का अतीन्द्रिय निगमन।

14.7 देश–काल का तात्त्विक निगमन –

किसी प्रत्यय की तात्त्विक व्याख्या का अर्थ किसी प्रत्यय का विश्लेषण करने के उपरान्त उसे प्रागनुभविक तत्त्व के रूप सिद्ध करना है। उपर्युक्त विश्लेषण का संबंध जब देश–काल के प्रत्ययों से होता है और उन्हें प्रागनुभविक सिद्ध किया जाता है, तो इसे देश–काल का तात्त्विक निगमन कहते हैं।

काण्ट कहते है कि देश (Space) बाह्य इन्द्रिय का आकार है तथा काल (Time) आंतरिक इन्द्रिय का आकार है। बाह्येन्द्रियाँ चक्षु, श्रवण, रसना, घ्राण एवं त्वक् हैं तथा आन्तरिक इन्द्रिय मन है। बाह्य इन्द्रियों से देश में स्थित वस्तुओं का संवेदन प्राप्त होता है तथा आन्तरिक इन्द्रिय से काल में घटित मन की स्थितियों का संवेदन प्राप्त होता है। इस प्रकार संयुक्त रूप से कहा जा सकता है कि बाह्य इन्द्रियों एवं मन से जो संवेदन प्राप्त होते हैं वे क्रमशः देश एवं काल में स्थित होते हैं।

काण्ट देश–काल की विवेचना प्रागनुभविक रूप से करते हैं तथा देश–काल के तात्त्विक निगमन (तत्त्वमीमांसीय व्याख्या) के लिए चार प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इन प्रमाणों के माध्यम से काण्ट यह सिद्ध करने

का प्रयास करते हैं कि देश–काल आनुभविक न होकर प्रागनुभविक हैं। ये सम्प्रत्यय न होकर शुद्ध संवेदनाएँ (Pure Intuition) हैं। काण्ट द्वारा प्रस्तुत चार तर्क निम्नलिखित है–

14.7.1 देश–काल अनुभवजन्य नहीं है –

काण्ट कहते हैं कि देश–काल आनुभविक नहीं है क्योंकि जब देश–काल का अनुभव होता है, तो यह क्रमशः सह–अस्तित्त्व एवं अनुक्रम के रूप में होता है। सह–अस्तित्त्व से तात्पर्य दो से अधिक वस्तुओं का साथ–साथ अस्तित्त्ववान होना है तथा अनुक्रम का तात्पर्य एक घटना के बाद दूसरी घटना का घटित होना है। सह–अस्तित्त्व एवं अनुक्रम से देश एवं काल का प्रत्यय प्राप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि सह–अस्तित्त्व स्वयं किसी देश में रहता है और अनुक्रम स्वयं किसी काल में घटित होता है। इस प्रकार सह–अस्तित्त्व एवं अनुक्रम का अनुभव क्रमशः देश एवं काल के अभाव में नहीं हो सकता है।

काण्ट का मत है कि वस्तुएँ एक साथ तभी रह सकती है जब वे पहले से ही देश में स्थित हों। इसी प्रकार घटनाएँ अनुक्रम में तभी घटित हो सकती है जब वे पहले से ही एक काल में व्यवस्थित हों। अतः देश सह–अस्तित्त्व एवं काल अनुक्रम की प्रागपेक्षा है। देश के संबंध में सह–अस्तित्त्व सार्थक है और काल के संबंध में अनुक्रम सार्थक हैं। मानव जिस किसी विषय में देश–काल के प्रत्यय को प्राप्त करने का प्रयास करता है वह स्वयं किसी देश–काल में घटित होंगे। अतः इससे देश–काल का निगमन नहीं किया जा सकता है, जो यह सिद्ध करता है कि देश–काल अनुभवजन्य नही है बल्कि अनुभव स्वयं देश–काल पर निर्भर है।

14.7.2 देश–काल प्रागनुभविक प्रत्यय है –

काण्ट द्वारा देश–काल के संबंध में प्रतिपादित प्रथम तर्क निषेधात्मक है जो यह सिद्ध करता है कि देश–काल आनुभविक प्रत्यय नहीं है कि जबकि दूसरा तर्क भावात्मक है जो कि यह सिद्ध करता है कि देश–काल प्रागनुभविक है। काण्ट कहते हैं कि ऐसे देश–काल के विषय में सोचा जा सकता है जिसमें वस्तुएँ न हो किन्तु ऐसी वस्तुओं के विषय में नहीं सोचा जा सकता है जो देश–काल से स्वतंत्र हों। इसी प्रकार ऐसे काल के विषय में सोचा जा सकता है जिसमें कोई घटनाएँ न हों किन्तु ऐसी घटनाओं के विषय में नहीं सोचा जा सकता है जो काल रहित हों। दूसरे शब्दों में काण्ट कहते हैं कि रिक्त देश एवं रिक्त काल तो तभी संभव है किन्तु देश एवं काल से स्वतंत्र वस्तुओं और घटनाओं की संवेदना असंभव है। इस प्रकार देश–काल वस्तुओं और घटनाओं की संवेदना की तार्किक प्रागपेक्षा है। जो मानवीय प्रत्यक्षों में निहित होते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण को एक दृष्टांत के माध्यम से समझा जा सकता है। जैसे – हम किसी वृक्ष के संदर्भ में विचार करें तो उसके 'हरे या सूखे' 'लम्बे या छोटे' होने के विषय में सोचा जा सकता है किन्तु ऐसा नहीं सोचा जा सकता है कि वृक्ष देश में है या नहीं। इससे स्पष्ट होता है हरा, सूखा, लम्बा, छोटा इत्यादि वृक्ष के गुण है किन्तु देशीय होना किसी वृक्ष का गुण न होकर उसके अस्तित्त्व की अनिवार्य शर्त है। ऐसा ही विचार घटनाओं के संदर्भ में काल का है।

काण्ट जब यह कहते हैं कि रिक्त देश एवं रिक्त काल संभव है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रिक्त देश एवं रिक्त काल अनुभव के विषय होते हैं क्योंकि रिक्त देश एवं रिक्त काल विचार रूप में संभव है, किन्तु ये अनुभव का विषय वस्तु एवं घटनाओं के संबंध में ही होते हैं। यही कारण है कि काण्ट, न्यूटन के निरपेक्ष देश की अवधारणा का खण्डन करते हैं।

काण्ट द्वारा प्रतिपादित प्रथम एवं द्वितीय प्रमाण सम्मिलित रूप से यह स्थापित करते हैं कि देश–काल प्रागनुभविक है।

14.7.3 देश–काल सामान्य प्रत्यय नहीं है –

काण्ट का मत है कि देश–काल सामान्य प्रत्यय नहीं है। सामान्य किसी वर्ग के सभी विशेषों में पाये जाने वाला सारतत्त्व है। जैसे– मनुष्य एक वर्ग है, जिसके सभी विशेषों अर्थात् सभी मनुष्यों में 'मनुष्यत्त्व' नामक सामान्य पाया जाता है। दूसरे शब्दों में सामान्य का प्रत्यय पाये जाने के लिए उसके अनेक विशेष उदाहरणों का होना अनिवार्य है किन्तु देश एवं काल के अनेक विशेष नहीं होते हैं। ये दोनों अपने प्रकार के एकमात्र

प्रत्यय हैं। जब हम विभिन्न साधनों (देश) की बात करते हैं तो वे देश के उदाहरण नहीं है बल्कि उसके अंश हैं। इसी प्रकार जब हम विभिन्न कालों (ग्रीष्म काल, वर्षा काल, प्रातः काल, सायं काल इत्यादि) की बात करते हैं तो ये काल के उदाहरण नहीं अपितु काल के अंश हैं जो समग्रता में काल कहते जाते है। अतः देश–काल शुद्ध प्रत्यक्ष है। वे प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे विशेष है और ये शुद्ध हैं क्योंकि सर्वव्यापक हैं।

14.7.4 देश–काल अनन्त एवं अखण्ड है –

काण्ट कहते है कि देश–काल अनन्त,अखण्ड एवं अविभाज्य हैं। देश–काल अनन्त है। क्योंकि इन्हें किसी सीमा नहीं बाँध जा सकता है। देश–काल अखण्ड एवं अविभाज्य है क्योंकि देश एवं काल का विभाजन 'क्रमशः देश खण्डों एवं काल खण्डों में की नहीं किया जा सकता है। देश–काल का अनन्त, अविभाज्य एवं सर्वव्यापी होना उसे प्रागनुभविक बनता है जबकि विशेष होना प्रत्यक्ष का विषय बनता है इसलिए काण्ट देश–काल को प्रागनुभविक प्रत्यक्ष कहते हैं।

उपर्युक्त तर्क तृतीय तर्क के आधार को पुष्ट करता है। काण्ट देश–काल को 'प्रदत्त अनन्त महत्परिणाम (Unfinite Given Magnitude) कहते हैं। यदि देश–काल इन्द्रियानुभविक सम्प्रत्यय होते तो इन्हें अनन्त परिणाम वाला नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इन्द्रियानुभविक सम्प्रत्ययों का परिणाम निर्धारित होता है किन्तु देश–काल के परिणाम को निर्धारित नहीं किया जा सकता है। अतः ये सम्प्रत्यय न होकर संवेदन है।

14.8 क्या रिक्त देश एवं रिक्त काल संभव है –

न्यूटन ने रिक्त देश एवं रिक्त काल को संभव माना है क्योंकि देश एवं काल से क्रमशः सभी वस्तुओं और घटनाओं को निकाला जा सकता है। किन्तु काण्ट न्यूटन के विचार से सहमत नहीं है। उनके अनुसार देश एवं काल की सार्थकता वस्तुओं और घटनाओं के संदर्भ में ही है। पुनः काण्ट कहते हैं कि यदि देश–काल से वस्तुओं और घटनाओं को निकाल दिया जायेगा तो उन्हें किसी न किसी देश–काल में रखना होगा क्योंकि देश–काल वस्तुओं एवं घटनाओं की पूर्वपेक्षा हैं।

हलॉकि न्यूटन के मत का खण्डन करने के उपरान्त भी काण्ट यह कहते हैं कि देश–काल के विषय में सोचा जा सकता है जिसमें वस्तुएँ एवं घटनाएं न हों इस संदर्भ में काण्ट के मत के संरक्षण में एच.जे.पेंटन ने अपनी कृति 'Kant's Metaphysies of Experience' में कहते हैं कि काण्ट का आशय सभी वस्तुओं एवं घटनाओं को देश–काल से हटाया नहीं है अपितु उनका आशय है कि कुछ वस्तुओं और घटनाओं को देश–काल से निकाल दिया जाये तब भी देश–काल रहेंगे लेकिन किसी वस्तु या घटना से देश–काल को निकाल दिया जाये तो वस्तु एवं घटना संभव नही है।

14.9 क्या देश–काल का तात्त्विक निगमन सुसंगत है?

काण्ट द्वारा प्रतिपादित देश–काल के तात्त्विक निगमन की सुसंगतता पर कुछ दार्शनिकों ने प्रश्न उठायें हैं।

(1) काण्ट ने देश–काल को एक–दूसरे से स्वतंत्र माना है किन्तु ऐसा संभव नही है। काल केवल आन्तरिक विषयों का निर्धारण करता है बाह्येन्द्रियों के प्रत्येक विषय का निर्धारण देश एवं काल दोनों से होता है। अतः देश–काल प्रत्यक्ष के दो परस्पर पृथक आकार न होकर एकाकार हैं।

(2) काण्ट द्वारा प्रतिपादित प्रागनुभविक प्रत्यक्ष की अवधारणा भ्रामक है क्योंकि जो प्रागनुभविक होता है वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष होने के लिए आनुभविक होना अनिवार्य है।

(3) स्ट्रासन का मत है कि जिसका संवेदन प्राप्त होता है उसकी वास्तविक सत्ता हो, यह अनिवार्य नही है। जैसे– रेगिस्तान में मृग मरीचिका की संवेदना प्राप्त होती है किन्तु इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है।

निष्कर्षत : कहा जा सकता है काण्ट देश–काल के संबंध में पूर्ववर्ती मतों की समीक्षा करने के उपरान्त अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। वे देश–काल की तात्त्विक व्याख्या के संबंध में प्रमाणों को प्रस्तुत करते हैं। ये

प्रमाण आलोचना से मुक्त नहीं हैं किन्तु काण्ट की तात्त्विक व्याख्या तार्किक तत्त्वमीमांसा के रूप में दर्शन की समृद्धि में सहायक है।

14.10 बुध्दि –विकल्प की परिभाषा –

काण्ट बुद्धि–विकल्पों को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त संवेदनों को नियमित, प्रबन्धित एवं समन्वित करने वाले संसाधनों को बुद्धि विकल्प (Categories) कहा जाता है। बुद्धि–विकल्प नित्य साँचों के समान हैं जो इन्द्रिय संवेदनों को ज्ञान का स्वरूप प्रदान करते हैं।

हमारा समस्त ज्ञान इन्द्रिय संवेदन एवं बुद्धि–विकल्पों के योग से निर्मित होता है। इस प्रक्रिया में इन्द्रिय संवेदन उपादान का कार्य करते हैं तथा बुद्धि विकल्प नित्य साँचे के समान हैं जिसमें उपादान सामग्री ढलकर ज्ञान का स्वरूप प्राप्त करती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मिट्टी साँचे में ढलकर मूर्ति की स्वरूप प्राप्त करती है। इन्द्रिय संवेदन अस्त व्यस्त, विश्रृंखल व असम्बद्ध होते हैं। बुद्धि विकल्प इन्हें नियमित, व्यवस्थित व सम्बद्ध कर ज्ञान का रूप देते हैं। इसी सम्बंध में काण्ट की प्रसिद्ध उक्ति है इन्द्रिय संवेदनों के बिना बुद्धि विकल्प पंगु हैं तथा बुद्धि विकल्पों के बिना इन्द्रिय संवेदन अंधे हैं। हमारे ज्ञान में सत्यता एवं यथार्थता इंद्रिय संवेदनों से तथा अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता बुद्धि–विकल्पों से आती है। क्योंकि इंद्रिय संवेदन हमारे मन की रचना न होकर जगत के वास्तविक पदार्थों द्वारा उत्पन्न होते हैं इसीलिए हमारा ज्ञान इन्द्रिय संवेदनों तक ही सीमित होता है। इन्द्रिय संवेदनों के अभाव में सत्य एवं यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। परमार्थ के इंद्रिय संवेदना प्राप्त नहीं होते हैं इसलिए परमार्थ के सम्बंध में हम सत्य एवं यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं।

हमारे ज्ञान में अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता बुद्धि–विकल्पों से आती है। हमारी आत्मा सक्रिय रूप में इंद्रिय संवेदनों को ग्रहण कर बुद्धि में ज्ञान का स्वरूप देने हेतु प्रस्तुत करती है। बुद्धि अपने विकल्पों से संवेदनों को गुजारकर ज्ञान का स्वरूप प्रदान करती है। बुद्धि – विकल्प सार्वभौमिक एवं अनिवार्य रूप से सभी व्यक्तियों में समान रूप से पाये जाते हैं। जिससे सभी ज्ञान में निश्चितता, अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता समान रीति से पायी जाती है। परमार्थ के इंद्रिय संवेदन प्राप्त नहीं होते है। अतः इंद्रिय संवेदनों के अभाव में बुद्धि को व्यवस्थित एवं नियमित करने हेतु कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती है। यही कारण है कि परमार्थ के विषय में अनिवार्य एवं सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती है।

इन्द्रिय संवेदनों को ज्ञान का स्वरूप प्राप्त करने के लिए बुद्धि – विकल्पों से गुजरना ही पड़ता है। बुद्धि विकल्पों इन्द्रिय संवेदन व देश–काल नामक दो मानसिक चश्मों के माध्यम से प्राप्त होते हैं। बुद्धि के नियम सार्वभौम, अनिवार्य एवं निश्चित होते हैं। ये नियम उत्पत्ति की दृष्टि से इन्द्रियानुभव –निरपेक्ष हैं किन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन्द्रियानुभव सापेक्ष हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ज्ञान का आरम्भ अनुभव से प्राप्त इन्द्रिय संवेदनों से तथा पूर्णता बुद्धि द्वारा इन्द्रिय संवेदन को व्यवस्थित एवं नियमित करने से होती है। इस संदर्भ में काण्ट की प्रसिद्ध उक्ति है कि समस्त ज्ञान का आरम्भ अनुभव से होता है किन्तु इसकी प्राप्ति अनुभव से न होकर बुद्धि से होती है।

14.11 बुध्दि के कार्य –

बुद्धि इन्द्रिय संवेदनों के रूप में देश–काल के माध्यम से प्राप्त अस्त–व्यस्त, एवं अनियमित संवेदनों को बुद्धि–विकल्पों से गुजारकर व्यवस्थित एवं नियमित करने का कार्य करती है। बुद्धि किसी विषय–वस्तु के संवेदनों को व्यवस्थित कर निर्णय या परामर्श के रूप में प्रस्तुत करती है। काण्ट बुद्धि के कार्य को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त का सहारा लेते हैं कि बुद्धि का कार्य को चीटियों के समान एकत्रित करना नहीं है, न ही मकडियों के समान सामग्री को अपने अन्दर से उत्पन्न करके जालों के निर्माण करने के समान है अपितु बुद्धि मधुमक्खियों के समान कार्य करती है। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ फूलों से रस को एकत्रित करती हैं और उसे संसाधित कर मधु का रूप देती हैं। ठीक उसी प्रकार बुद्धि इन्द्रिय संवेदनों से प्राप्त सामग्री को बुद्धि विकल्पों

से नियमित एवं प्रबन्धित करके ज्ञान का स्वरूप देती हैं। यह ज्ञान किसी वस्तु के सम्बंध में निर्णय या परामर्श के रूप में जाना जाता है।

14.12 निर्णय की परिभाषा –

निर्णय बुद्धि के व्यापार हैं। यह बाह्य वस्तुओं का अप्रत्यक्ष ज्ञान हैं। जब बाहय वस्तुओं से प्राप्त संवेदन, इंद्रिय संवेदनों के रूप में देश–काल के द्वारा बुध्दि ग्रहण करती है तो उनके सम्बन्ध में ज्ञान को निर्णय या परामर्श के रूप में व्यक्त किया जाता है।. निर्णय के द्वारा बुद्धि ज्ञान की सामग्री को व्यवस्थित, नियमित एवं समन्वित करने का कार्य करती है। बुद्धि के सभी कार्य निर्णय के रूप में अभिव्यक्त होते है । इस प्रकार निर्णय को बाह्य वस्तुओं के संवेदनों की एकता या संकुचन की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।

14.13 निर्णयों के प्रकार –

काण्ट ने पारम्परिक तर्कशास्त्र को निर्णयों के विभाजन का आधार मानते हुए निर्णयों को चार प्रकारों में विभाजित किया है तथा प्रत्येक प्रकार को तीन उप–प्रकारों में विभाजित किया गया है। जो इस प्रकार है–

(क) परिमाणवाचक(Quantitative) –(1) सामान्य व्यक्ति बोधक (Universal) जैसे–सभी मनुष्य मरणशील है।

(2) विशेष व्यक्ति बोधक (Particular) जैसे– कुछ मनुष्य मरणशील है।

(3) एकात्म बोधक (Singular) जैसे– राम मरणशील है।

परम्परागत तर्कशास्त्र में एकात्मक निर्णयों को सामान्य अन्तर्गत रखा जाता है। इन्हें स्वतंत्र नहीं माना जाता है। काण्ट इससे सहमत नहीं है। काण्ट के मतानुसार एकात्मक निर्णय स्वतंत्र होते हैं क्योंकि एकात्मक निर्णय में ज्ञान का विस्तार व्यक्ति विशेष तक सीमित होता है तथा सामान्य में ज्ञान का विस्तार सम्पूर्ण वर्ग तक विस्तारित होता है।

जैसे–राम मरणशील' है। यह एकात्मक निर्णय है, जो राम के मरणशील होने का ज्ञान प्रदान करता है। यहाँ मरणशील के गुण का विस्तार राम (व्यक्ति विशेष) तक सीमित है जबकि सभी मनुष्य मरणशील हैं। एक सामान्य निर्णय है। जो समूची मानव जाति के मरणशील होने का ज्ञान प्रदान करता है। यहाँ मरणशीलता के गुण का विस्तार समूची मानव जाति तक है। इस अन्तर के आलोक में काण्ट एकात्मक निर्णय एवं सामान्य निर्णय में भेद को स्वीकार करते हैं–

(ख) गुणवाचक (Qualitative) (4) भावात्मक निर्णय (Affirmative) जैसे– राम मरणशील है।

(5) अभावात्मक निर्णय (Negative) जैसे–राम मरणशील नहीं है।

(6) सीमित/अनन्त (Limited) जैसे– राम मरणशील नहीं है।

सामान्य तर्कशास्त्र के अंतर्गत सीमित/अनन्त तर्कवाक्यों को स्वीकारात्मक निर्णयों में शामिल किया जाता है। किन्तु काण्ट इस विचार से सहमत नहीं हैं। काण्ट के मतानुसार सीमित/अनन्त तर्कवाक्यों को स्वीकारात्मक निर्णयों में शामिल नहीं किया जा सकता है क्योंकि स्वीकारात्मक निर्णय सुनिश्चित रूप से उद्देश्य को प्रस्तुत करते हैं जबकि अनन्त या सीमित निर्णय उद्देश्य को एक विधेय से बहिष्कृत कर अनंत विधेय के अंतर्गत रखता है।

जैसे– राम मरणशील है से उद्देश्य को बहिष्कृत कर राम अ–मरणशील है (अनन्त) में रखना।

(ग) सम्बन्ध वाचक (Relational) – (7)निरपेक्ष (Categarical) जैसे– राम मनुष्य है।

(8) सापेक्ष (Hypothetical) जैसे – यदि राम मनुष्य है तो वह मरणशील है।

(9) वैकल्पिक (Disjemctive) जैसे– या तो राम दोषी है या निर्दोष।

सामान्य तर्कशास्त्र में सम्बन्ध सूचक प्रथम निर्णय निरपेक्ष के अन्तर्गत अन्य दोनों निर्णय सापेक्ष एवं वैकल्पिक को भी समाहित किया जाता है किन्तु काण्ट इससे सहमत नहीं हैं। काण्ट के मतानुसार सम्बन्ध सूचक तीनों निर्णय पृथक–पृथक है। प्रथम निर्णय निरपेक्ष का सम्बन्ध दो प्रत्ययोंश श्रामश एवं श्मनुष्यश से है, श्द्वितीय निर्णय सापेक्ष का सम्ध दो शनिर्णयों के तार्किक क्रम से है जो शर्त के अधीन है, जिसमें से केवल एक ही निर्णय सत्य हो सकता है तथा तृतीय निर्णय वियोजक का सम्बंध दो निर्णयों के पारस्परिक विरोध से हैं, जिसमें एक निर्णय दूसरे निर्णय का विरोध करता है।

(घ) प्रकार वाचक (Model)– (10) संभावित (Problematic) जैसे– चाँद पर जीवन संभव है।

(11) प्रतिपन्न (Asserteric) जैसे– वह मरणशील है।

(12) आवश्यक (Apodiatic) जैसे– प्रत्येक कार्य का कारण होता है।

प्रकारता सम्बन्धी निर्णय अन्य तीनों निर्णयों–परिमाण वाचक,गुण वाचक एवं सम्बन्ध वाचक से भिन्न होते हैं क्योंकि जहाँ प्रथम श्तीनों निर्णयों का सम्बन्ध निर्णयों की अन्तर्वस्तु से होता है, वहीं प्रकारता सम्बंधी निर्णय का सम्बन्ध निर्णयों की अन्तर्वस्तु से नही होता है बल्कि इसका सम्बन्ध निर्णय की अन्तर्वस्तु एवं विचार के सम्बन्ध से होता है। प्रकारता वाचक प्रथम निर्णय संभाव्य होता जिसमें विधि या निषेध दोनों संभव हैं।

जैसे– चाँद पर जीवन की संभव है,में चाँद पर जीवन की संभावना एवं असंभावना दोनों समाहित है। द्वितीय निर्णय प्रतिपन्न सदैव सत्य होते हैं क्योंकि ये सुनिश्चित आधारों से प्रतिपन्न होते हैं तथा तृतीय निर्णय स्वतः सिद्ध में अनिवार्यता होती है।

14.14 बुद्धि–विकल्पों के प्रकारः–

निर्णयों के समान ही बुद्धि–विकल्पों को चार आयामों के अन्तर्गत बारह प्रकारों में विभक्त किया गया है। ये बाराह निर्णयों से साम्यता प्रदर्शित करते हैं, जो इस प्रकार हैं–

(क) परिणात्मक –	(1) पूर्णता (Unity)
	(2) अनेकता (Plurality)
	(3) एकता (Totality)
(ख) गुणात्मक –	(4) सत्ता (Reality)
	(5) अभाव (Negation)
	(6) सीमा (Limitation)
(ग) सम्बन्धात्मक –	(7) द्रव्य–गुण सम्बन्ध (Substance and Accident)
	(8) कार्य–कारण सम्बन्ध (Cause and effect)
	(9) अन्योन्य सम्बन्ध (Reciprocity between active and Passive)

(घ) प्रकारात्मक – (10) संभावना एवं असंभावना (Possibility and impossibility)

(11) भाव–अभाव (Existence and non-existence)

(12) अनिवार्यता–आगन्तुकता (Neccessity and contingency)

उपरोक्त बारह बुद्धि–विकल्पों में प्रथम छः बुद्धि विकल्पों स्थैतिक (Mathematical) हैं जो वस्तुओं के स्वभाव का वर्णन करते हैं तथा द्वितीय छः बुद्धि विकल्प गत्यात्मक (Dynamic) हैं, ये वस्तुओं के परस्पर सम्बंधों तथा बुद्धि एवं वस्तु के सम्बंधों को व्यक्त करते हैं।

उपरोक्त प्रत्येक आयाम में तीन बुद्धि–विकल्पों का समावेश किया गया है, जिसमें प्रत्येक आयाम का तीसरा बुद्धि–विकल्प प्रथम एवं द्वितीय बुद्धि विकल्प के समन्वय से निर्मित है। जैसे– एकता, अनेकता का समन्वय पूर्णता, अभाव एवं सत्ता की समय सीमा, द्रव्य–गुण सम्बंध एवं कार्य–कारण सम्बन्ध का समन्वय अन्योन्य सम्बन्ध तथा संभावना–असंभावना एवं भाव–अभाव का समन्वय अनिवार्यता–आगन्तुकता में है। इसमें तृतीय सम्बन्धात्मक आयाम को महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि दो वस्तुओं एवं विचारों के मध्य सम्बंध स्थापित करना बुद्धि का प्रमुख कार्य है। इसमें द्रव्य–गुण सम्बन्ध, कार्य–कारण सम्बंध एवं अन्योन्य सम्बन्ध सम्मिलित हैं।

14.15 बुद्धि–विकल्पों की विशेषताएं–

बुद्धि विकल्पों के वर्णन एवं व्याख्या से इनकी निम्नलिखित विशेषताएँ उभरती हैं–

(1) बुद्धि–विकल्प इन्द्रिय– संवेदनों को नियमित एवं व्यवस्थित कर ज्ञान का स्वरूप प्रदान करते हैं। इन्द्रिय संवेदनों के अभाव में बुद्धि–विकल्प निष्क्रिय हैं।

(2) बुद्धि–विकल्प स्थैतिक एवं गत्यात्मक दोनों हैं। स्थैतिक बुद्धि विकल्प वस्तुओं के स्वभाव तथा गत्यात्मक बुद्धि विकल्प वस्तुओं के सम्बन्ध को बतलाते हैं।

(3) प्रत्येक आयाम का तीसरा बुद्धि विकल्प पहले एवं दूसरे विकल्प का समन्वय है।

(4) बुद्धि–विकल्प ज्ञान को अनिवार्य एवं सार्वभौम स्वरूप प्रदान करते हैं।

(5) इन बारह बुद्धि–विकल्पों के अन्तर्गत समस्त मानवीय ज्ञान समाहित है। इससे पृथक एवं भिन्न कुछ भी नहीं है।

(6) बुद्धि विकल्पों के चार आयामों में परिमाण से अनुवाद, गुण से शून्य, सम्बध से संयोग एवं प्रकार से चमत्कार का खण्डन होता है।

14.16 बुद्धि –

विकल्प की अवधारणा का मूल्यांकन– काण्ट की बुद्धि–विकल्प की अवधारणा के सम्बन्ध में विचारको ने आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैश, जो इस प्रकार हैं–

(1) काण्ट ने बुद्धि – विकल्पों को अनुभव निरपेक्ष माना है तथा इन्द्रिय संवेदनों को अनुभव सापेक्ष इस प्रकार दोनों की प्रकृति एक–दूसरे से मूलतः भिन्न है। ऐसी स्थिति में बुद्धि विकल्प इन्द्रिय संवेदनों को नियमित एवं व्यवस्थित कर ज्ञान का स्वरूप कैसे दे सकते हैं?

हालाँकि काण्ट इस समस्या के प्रति सचेत थे और उन्होने इन्द्रिय संवेदनों एवं बुध्दि विकल्पों के मध्य काल को मध्यस्थ के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार काल शुद्ध संवेदन, अनिवार्य एवं सार्वभौम होने

के कारण बाह्य जगत एवं मानसिक जगत दोनों पर प्रभावी है। सभी मानवीय अनुभूतियाँ काल के सार्वभौम प्रत्यक्ष के द्वारा ही अनुभूत होती हैं तथा ज्ञान के रूप में इन्द्रिय संवेदनों को व्यवस्थित कर नियमित करने में भी काल की महत्वपूर्ण भूमिका है।

(2) काण्ट ने बुद्धि – विकल्पों के अन्तर्गत समाहित कार्य–कारण सम्वन्ध को वस्तु जगत का सम्बंध माना है। उनका मानना है कि कार्य– कारण की सीमा जगत की सीमा है। यह जागतिक वस्तुओं या व्यवहार पर ही प्रभावी होता है। किन्तु हयूम का मत इससे भिन्न है। ह्यूम का मानना है कि कार्य–कारण वस्तु जगत का सम्बन्ध न होकर विज्ञानों का सम्बंध है। हयूम कहते हैं कि कार्य–कारण के इन्द्रिय संवेदन प्राप्त नहीं होते हैं। अतः इसे जागतिक वस्तुओं पर अनिवार्यतः प्रभावी नहीं किया जा सकता है।

– यद्यपि काण्ट इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में कहते है कि बुद्धि विकल्प यदि इन्द्रिय संवेदनां को नियमित एवं व्यवस्थित न करें तो इन्द्रिय संवेदन ज्ञान का रूप नहीं ले सकते हैं अर्थात बुद्धि विकल्पों के अभाव में बाह्य जगत अनुभव का भी विषय नहीं हो सकता है। अतः न केवल ज्ञान के लिए अपितु जागतिक विषयों के अनुभव के लिए भी बुद्धि–विकल्प अपरिहार्य हैं। इस प्रकार काण्ट विषयता के आधार पर अतीन्द्रिय बुध्दि विकल्पों की स्थापना करते हैं तथा हयूम के अनुभववाद एव संदेहवाद का भी निराकरण करते हैं।

(3) काण्ट का मानना है कि बुद्धि–विकल्प विशुद्ध आत्मतत्त्व की शक्ति से इन्द्रिय संवेदनों को व्यवस्थित एवं नियमित कर ज्ञान का स्वरूप देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के लिए इंद्रिय संवेदन अनिवार्य हैं अर्थात् इन्द्रिय संवेदनों के अभाव में ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इन्द्रिय संवेदनों के अभाव में बुद्धि विकल्प निष्क्रिय हैं। इन्द्रिय संवेदन केवल जागतिक वस्तुओं के प्राप्त होते हैं, परमार्थ के नहीं । अतः ज्ञान केवल व्यवहार का प्राप्त होगा, परमार्थ का नहीं। इस प्रकार काण्ट का सिद्धांत परमार्थ के सम्बन्ध में अज्ञेयवाद (Agnosticism) की स्थापना करता है। इसके साथ ही कुछ विचारकों का मानना है कि यदि परमार्थ अज्ञेय है तो परमार्थ के विषय में यह भी नहीं जाना जा सकता है कि परमार्थ अज्ञेय है क्योंकि में बुद्धि – विकल्पों की अनिवार्य भूमिका है और परमार्थ तक बुद्धि –विकल्पों की गति नहीं है। अतः परमार्थ के विषय में बुद्धि विकल्प यह ज्ञान देने में भी असमर्थ हैं कि परमार्थ अज्ञेय हैं। परमार्थ को अज्ञेय कहना बुद्धि विकल्प की सीमा का अतिक्रमण है और यदि परमार्थ को अज्ञेय कहा जायेगा तो यह परमार्थ को ज्ञान की सीमा में ला देगा।

यद्यपि काण्ट यहाँ कहते हैं कि मानवीय ज्ञान दो रूपों– विधि एवं निषेध के रूप में होता है। विधि रूप ज्ञान प्रत्यक्ष पर आधारित होता है और सदैव सत्य होता है जबकि निषेध रूप ज्ञान विधान की सदैव उपेक्षा करता है। यह सर्वथा सत्य या सर्वथा अज्ञान रूप न होकर ज्ञान की सीमा है अर्थात् यहाँ आकर ज्ञान की सीमा समाप्त हो जाती है और ज्ञान को अपनी सीमा का ज्ञान होने में कोई अन्तर्विरोध नहीं होता है। काण्ट का मत है कि परमार्थ की विधि रूप प्राप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है किंतु निषेध रूप ज्ञान संभव है क्योंकि यह परमार्थ की होकर ज्ञान की सीमा का बोध कराता है।

(4) काण्ट का मत है कि इंद्रिय संवेदन ही बुद्धि विकल्पों में ढ़लकर ज्ञान का रूप लेते हैं। ऐसे में कुछ विचारक उन पर दृष्टि– सृष्टिवादी एवं अहंमात्रवादी होने का आरोप लगाते हैं।

काण्ट इस आरोप के बचाव में कहते हैं कि इंद्रिय संवेदन बुद्धि–विकल्पों के साँचों से ज्ञान की स्वरूप अवश्य प्राप्त करते हैं किन्तु बुद्धि विकल्पों को शक्ति विशुद्ध आत्म तत्त्व से प्राप्त होती है। विशुद्ध आत्म तत्त्व समस्त मानवीय ज्ञान एवं अनुभव का एकमात्र अधिष्ठान है और इसी से विभिन्न जीवों को शक्ति प्राप्त होती है। अतः यह सार्वभौम तत्त्व है जो सभी जीवों को शक्ति प्रदान करता है। जिससे विभिन्न जीवों का व्यावहारिक जगत समान होता है।

14.17 संवृत्ति का आशय –

काण्ट कहते हैं कि कोई भी वस्तु संवेदन के माध्यम से ही ग्रहण हो सकती है। संवेदन के माध्यम देश–काल मानव मन की आत्मगत विशेषताएं हैंश, स्वलक्षण वस्तु की नहीं । स्वलक्षण वस्तु का प्रदत्त होना असंभव है और जो प्रदत्त हो सकता है वह संवेदना के आकारों द्वारा पूर्व निर्धारित कर दिया जाता है। इस प्रकार जो कुछ संवेदना के माध्यम से प्राप्त होता है, वह स्वलक्षण वस्तु से भिन्न होता है। उसी को काण्ट संवृत्ति या आभास कहते हैं। ये मानवीय अनुभव में आने वाले विषय हैं। इसके संवेदन इन्द्रियों के माध्यम से देश –काल में ग्रहण किये जाते हैं। ये इन्द्रियगोचर हैं। इनकी व्यावहारिक सत्ता होती है। संवृत्ति के विषयों का ज्ञान यथार्थ (Real), सार्वभौम (Universal) एवं अनिवार्य होता है। उदाहरण स्वरूप जब हम किसी स्थान पर किसी रस्सी को देखते हैं तो रस्सी की संवेदना देश–कल से अविछिन्न होकर हमें प्राप्त होती हैं, बुद्धि–विकल्प इसे व्यवस्थित कर ज्ञान का स्वरूप देते हैं। इस प्रकार हमें रस्सी का ज्ञान प्राप्त होता है। यह सांवृत्तिक विषय का ज्ञान है, जो यथार्थ, सार्वभौम एवं अनिवार्य होता है। यह दृष्य के भय की रचना न होकर व्यावहारिक सत् है।

यहाँ यह सपष्ट कर देना अनिवार्य है कि सांवृत्तिक, व्यावहारिक सत् स्वलक्षण वस्तु नहीं है। व्यवहार या संवृत्ति की पृष्ठभूमि में स्वलक्षण वस्तु विद्यमान रहती है। स्वलक्षण वस्तु इन्द्रियगोचर न होकर केवल बुद्धिगोचर होती है। दृष्टा केवल व्यावहारिक सत् से सम्बंधित होता है, वह स्वलक्षण वस्तु से निरपेक्ष होता है। स्वलक्षण वस्तु (Things in themselves) निष्प्रपंच होती है। मानव की एक निश्चित ज्ञान संरचना है और इसी ज्ञान संरचना के आधार पर जगत का स्वरूप भी निर्धारित होता है। जिस जगत को हम जानते हैं वह बुद्धि द्वारा निर्मित है। किन्तु हमारी बुद्धि की यह सीमा है कि वह वस्तु को उसके मूल स्वरूप –में ग्रहण नहीं कर सकती है। यही कारण है कि वस्तु का मूल स्वरूप अज्ञात एवं अज्ञेय रह जाता है।

14.18 परमार्थ का अर्थ –

परमार्थ से तात्पर्य ऐसे विषयों से है जो संवेद्य अनुभव के विषय न होकर मात्र बौद्धिक चिन्तन के विषय होते हैं। परमार्थ के विषयों के इन्द्रिय संवेदन प्राप्त नहीं होते हैं और इन्द्रिय संवेदनों के अभाव में परिमार्थिक विषयों के सम्बन्ध में कोई निर्णय प्रस्तुत नही किया जा सकता है। ये देश–काल से अविछिन्न न होकर देश–कालातीत होते हैं। अतः परमार्थ अज्ञेय रह जाता है। यद्यपि परमार्थ बौध्दिक संवेदना का विषय है किंतु मानव की ज्ञान संरचना इस प्रकार कि उसमें बौध्दिक संवेदनों को ग्रहण करने की क्षमता नहीं पायी जाती है।

परमार्थ को अज्ञेय माना जाता है किंतु परंमार्थ की सम्यक समझ के लिए अज्ञेय को समझ लेना समीचीन है। अज्ञेय एक ज्ञानमीमांसीय अवधारणा है। काण्ट कहते हैं कि ज्ञान सदैव परामर्शात्मक या निर्णयात्मक होता है अर्थात् ज्ञान की अभिव्यक्ति निर्णय (Judgement) या परामर्श के रूप में होती है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिसे परामर्श के रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है, वह ज्ञान की श्रेणी में समाहित नहीं है। परमार्थ के विषय में परामर्शात्मक रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परमार्थ के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है अपितु यह कि उसे परामर्श के रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार अज्ञेय पूर्ण अज्ञान की स्थिति न होकर उसे परामर्श के रूप में व्यक्त न कर पाने की स्थिति है।

यद्यपि तर्क बुद्धि प्रागनुभविक होती है तथापि वह संवेदना की उन सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकती है, जिसके अन्तर्गत वस्तु प्रदत्त होती हैं। तर्कबुद्धि प्रागनुभविक रूप से केवल इन्द्रियानुभव की सामान्य रूपरेखा का निर्देश कर सकती है। अनुभव का विषय केवल आभास होता है। जो आभास नहीं, वह अनुभव का विषय नहीं है जबकि परमार्थ आभास नहीं है। साथ ही तर्कबुद्धि के सम्प्रत्ययों का केवल इन्द्रियानुभविक प्रयोग ही संभव है एवं उचित है तथा परमार्थ पर इनका प्रयोग असंभव एवं अनुचित है।

चूँकि बुद्धि विकल्पों के उद्‌गम स्रोत संवेदना शक्ति न होकर तर्कबुद्धि के संप्रत्यय हैं। इसलिए उद्‌गम स्रोत की दृष्टि से बुद्धि विकल्प अनुभव से सदैव भिन्न एवं प्रागनुभविक हैं। इस कारण ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि बुद्धि विकल्प प्रागनुभविक होने के कारण इन्द्रियानुभविक विषयों से परे जाकर अनुभवातीत विषयों के साथ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। बुद्धि विकल्प इन्द्रियानुभविक विषयों से परे जाकर अनुभवातीत विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं, केवल उन पर विचार (चिन्तन) कर सकते है काण्ट ज्ञान एवं विचार में भी अन्तर करते हैं। विचार करना विशुद्ध सम्प्रत्ययात्माक क्रिया है, जिसके लिए संवेदनों की आवश्यकता नहीं होती है। इसीलिए अनुभवातीत विषयों पर भी विचार किया जा सकता है किन्तु ज्ञान की प्रक्रिया के लिए कुछ शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है। जिसमें देश–काल में प्राप्त इन्द्रिय संवेदनों को बुद्धि विकल्पों से गुजरना पड़ता है।

14.19 संवृत्ति एवं परमार्थ में भेद–

काण्ट समस्त विषयों को संवृत्ति एवं परमार्थ नामक दो श्रेणियों के अन्तर्गत समाहित करते हैं। प्रत्येक वस्तु या तो संवृत्ति है या परमार्थ है। संवृत्ति एवं परमार्थ में निम्मलिखित भेद हैं–

(1) संवृत्ति के इन्द्रिय संवेदन प्राप्त होते हैं इसलिए संवृत्ति इंद्रियगोचर होता है जबकि परमार्थ के इंद्रिय संवेदन प्राप्त नहीं होते हैं इसलिए परमार्थ इंद्रियगोचर नहीं होता है किन्तु परमार्थ बौद्धिक संवेदनों से युक्त होने के कारण बुद्धिगोचर होता है।

(2) संवृत्ति के इंद्रिय संवेदन प्राप्त होते हैं इसलिए यह ज्ञेय होता है जबकि परमार्थ इन्द्रिय सवेदनों के अभाव में अज्ञेय होता है किंतु परमार्थ बुद्धिगोचर होने के कारण चिंतन का विषय होता है।

(3) संवृत्ति देश –काल से अविछिन्न होता है और देश–काल में ही इसके इन्द्रिय संवेदन प्राप्त होते जबकि परमार्थ देशकालातीत है, अतः परमार्थ की संवेदना प्राप्त नहीं होती है।

(4) संवृत्ति दृष्टा सापेक्ष होता है क्योंकि दृष्टा द्वारा इसके इन्द्रियानुभविक संवेदन प्राप्त किये जाते हैं जबकि परमार्थ दृष्टा निरपेक्ष होता है क्योंकि यह प्रागनुभविक होता है।

14.20 स्वलक्षण वस्तु सिध्दान्त के विरुध्द आपत्तियाँ –

काण्ट के स्वलक्षण वस्तु सिध्द्वान्त के विरुद्ध आलोचकों ने निम्नलिखित आपत्तियाँ उठायी हैं–

(1) हेगल स्वलक्षण वस्तु को वदतोव्याघात कहते हैं क्योंकि जो विचार आभास एवं सत् का भेद करता है, उसके लिए सत् अगम्य सत्ता नही होती है। हेगल अपने दर्शन में सत् एवं विचार के अंतर को समाप्त कर देते हैं। हेगल की प्रसिद्ध उक्ति है –सत् बौद्धिक है, बौद्धिक सत् है। (Real is rational Rational is real) ।

(2) फिक्टे कहते हैं कि काण्ट ने स्वयं स्वलक्षण वस्तु के सिद्धांत को गम्भीरता से नहीं लिया होगा और यदि उसने ऐसा किया है तो काण्ट की अद्‌भुत कृति 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' केवल एक संयोग की रचना है तथा यह सिध्दान्त दैवीय प्रेरणा से लिखे गये महान ग्रंथ का कमजोर पक्ष है। फिक्टे के इस कथन में काण्ट की प्रशंसा एवं आलोचना दोनों समाहित हैं।

(3) याकोवी के अनुसार काण्ट के दर्शन में स्वलक्षण वस्तु के बिना प्रवेश करना असंभव है किन्तु उसके साथ उससे बाहर निकलना भी असंभव है।

(4) काण्ट की स्वलक्षण वस्तु की मान्यता आत्मघाती है क्योंकि एक ओर तो हम वस्तु को स्वीकार करते हैं. वहीं दूसरी ओर यह कहते हैं उसे जाना नहीं जा सकता है। किसी वस्तु के बारे में यह कहना कि 'वह वस्तु है' उसके सम्बंध में एक प्रकार का ज्ञान है। इस स्थिति में वस्तु को अज्ञात एवं अज्ञेय कैसे कहा जा सकता है?

यदि काण्ट के दर्शन की गहन समीक्षा की जाये तो हम इन आपत्तियों का समुचित निराकरण कर सकते हैं। काण्ट बर्कले के आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद का खण्डन कर वस्तुवाद की स्थापना करते हैं। वस्तुवाद की स्थापना के लिए आवश्यक है कि वस्तु की वास्तविकता को वस्तुनिष्ठ आधार प्रदान किया जाये, जिससे कि वस्तुजगत मन की रचना न होकर वास्तविक हो जाये। काण्ट इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वलक्षण वस्तु के सिध्दान्त का प्रतिपादन करते है। यह काण्ट की ज्ञानमीमांसा को वस्तुनिष्ठ आधार प्रदान करता है।

कुछ आलोचक काण्ट को स्वलक्षण वस्तु को बौध्दिक प्रत्यय के रुप में स्वीकार करने की सलाह देते हैं किन्तु ऐसा करने पर स्वलक्षण वस्तु की भूमिका वह नहीं रह जायेगी जो काण्ट चाहते हैं क्योंकि बौध्दिक प्रत्यय आकार के होते हैं और आकार रिक्त होते हैं। ये वास्तविक इन्द्रियानुभविक जगत के आधार नहीं हो सकते हैं। स्वलक्षण वस्तु को बौध्दिक प्रत्यय मानने पर इसकी परिणति संवृत्तिशास्त्र (फेनामेनोलॉजी) के रुप में होती है।

काण्ट द्वारा स्वलक्षण वस्तु को अज्ञात एवं अज्ञेय कहने के मूल में काण्ट का विचार है कि जानने की प्रक्रिया आभासों या संवृत्ति तक सीमित है। इसके लिए संवेदनों का होना अनिवार्य है। किंतु इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि जो जानने योग्य नहीं है उस पर विचार भी नहीं किया जा सकता है। यहाँ अज्ञात एवं अज्ञेय तकनीकी अर्थ में प्रयुक्त किये गये शब्द हैं।

इस प्रकार काण्ट मानवीय ज्ञान की मूलभूत संरचना के माध्यम से संवृत्ति एवं परमार्थ के भेद को स्पष्ट करते हुए यह दिखाते हैं कि केवल इन्द्रयानुभविक विषयों का ज्ञाऩ ही संभव है। यदि हम इन्द्रियानुभव की सीमा का उल्लंघन करके अनुभवातीत विषयों पर उसका प्रयोग करते हैं तो अनुभवातीत भ्रान्ति का जन्म होता है। ईश्वर, आत्मा एवं जगत अनुभवातीत सत्ताएं हैं, जो ज्ञान का विषय नहीं हैं अपितु आस्था का विषय हैं। ये सैध्दान्तिक, ज्ञान की स्वीकृति एवं अस्वीकृति का भी विषय नहीं हैं। अब ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिए काण्ट अनुभवातीत द्वन्द न्याय में आस्था को प्रतिष्ठित करते हैं। तर्कबुध्दि की सीमा के आगे धर्म एवं नैतिकता की सीमा प्रारम्भ होती है।

14.21 भ्रांति का तर्कशास्त्र–

काण्ट अनुभवातीत तर्कशास्त्र में यथार्थ ज्ञान की संरचना एवं शर्तों का विवेचन करने के कारण इसे सत्य का तर्कशास्त्र कहते है तथा अनुभवातीत द्वन्द्वन्याय के अन्तर्गत बुद्धि के सम्प्रत्ययों के अनुचित प्रयोग से उत्पन होने वाली भ्रातियों का विवरण होने के कारण श्भ्रान्ति का तर्कशास्त्र कहते हैं। भ्रान्ति के तर्कशास्त्र का उद्देश्य अतीन्द्रिय भ्रान्ति के स्वरूप का उद्घाटन करना है ताकि उनके स्वरूप को समझकर उनसे बचा जा सके।

14.22 अनुभवातीत भ्रान्ति –

बुद्धि के सम्प्रत्ययों के अनुचित प्रयोग से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति को अनुभवातीत भ्रान्ति (Transcendental Illusions) कहा जाता है। अनुभवातीत भ्रान्ति का अधिष्ठान प्रज्ञा (Reason) है। काण्ट कहते हैं कि मानव में अपनी सीमाओं के उल्लंघन की स्वाभाविक प्रवृत्ति पायी जाती है। इसके तहत वह बुध्दि के सम्प्रत्ययों के प्रयोग की सीमा का उल्लंघन कर अनुभवातीत तत्वों को जानने का प्रयास करता है। जब प्रज्ञा बुद्धि-विकल्पों की बलात् उपयोग अनुभवातीत सत्ताओं पर करती, है तो यह बुद्धि विकल्पों का अनुचित प्रयोग या दुरुपयोग है, जिसके फलस्वरूप अतीन्द्रिय भ्रम की उत्पत्ति होती है। तत्वमीमांसीय चिन्तन के

अन्तर्गत प्रज्ञा बुद्धि के सम्प्रत्ययों के माध्यम से तत्त्व, मीमांसीय सत्ताएँ यथा–ईश्वर, आत्मा, जगत इत्यादि को जानने का प्रयास करती है, किन्तु तत्वमीमांसीय सत्ताएँ बुद्धि की सीमा से परे हैं, अतः उन्हें बुद्धि विकल्पों से नहीं जाना जा सकता है।

काण्ट अनुभवातीत भ्रान्ति के कुछ समानार्थक प्रतीत होने वाले शब्दों से अन्तर को स्पष्ट करते हैं। अनुभवावीत भ्रान्ति इन्द्रियानुभविक भ्रान्ति से भिन्न है। इन्द्रियानुभविक भ्राति का कारण बुद्धि के नियमों पर कल्पना का प्रभाव है जबकि अनुभवातीत भ्रान्ति का कारण बुद्धि के नियमों का अनुचित प्रयोग है। यहाँ बुध्दि के नियमों की सीमा का उल्लंघन होता है। अनुभवातीत भ्रान्ति संभाव्य ज्ञान से भी भिन्न है क्योंकि संभाव्य ज्ञान अपूर्ण ज्ञान है। संभाव्य ज्ञान सत्य होता है। अनुभवातीत भ्रान्ति, तार्किक भ्रान्ति से भी भिन्न है क्योंकि तार्किक भ्रान्ति तर्क के नियमों में असावधानी से उत्पन्न होती है। इसे पुनरीक्षण के द्वारा दूर किया जा सकता है जबकि अनुभवातीत भ्रान्ति को जानकर भी दूर नहीं किया जा सकता है क्योंकि स्वंय बुध्दि (शुद्ध बुद्धि/प्रज्ञा) ही इस भ्रांति का अधिष्ठान है। यही कारण है कि अनुभवातीत भ्रान्ति को समझा जा सकता है और सावधानीपूर्वक इससे बचा जा सकता है किन्तु इसका निराकरण नहीं किया जा सकता है।

14.23 अनुभवावीत भ्राति का अधिष्ठान –प्रज्ञा –

काण्ट कहते हैं कि बुद्धि नियमों का संकाय है जबकि प्रज्ञा (Reason) सिद्धातों का संकाय है। प्रज्ञा के सिद्धान्त नियामक प्रकृति के होते हैं। हमारा ज्ञान इन्द्रिय सवेदनों से प्रारम्भ होकर बुद्धि से होता हुआ प्रज्ञा (शुद्ध बुद्धि) पर समाप्त हो जाता है। प्रज्ञा बुद्धि एवं अनुभव की सीमा का अतिक्रमण कर अनुभवातीत सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहती है। तो प्रज्ञा बुद्धि को बुद्धि विकल्पों के अनुचित प्रयोग के लिए बाध्य करती है, इससे अनुभवातीत भ्रान्ति का जन्म होता है। काण्ट कहते हैं कि अनुभवातीत सत्ताओं (तत्वमीमांसा) की बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। तत्वमीमांसा अज्ञेय है। यहाँ अज्ञेय होना तत्वमीमांसा का निरर्थक होना नहीं है।

14.24 तर्कबुद्धि एवं प्रज्ञा में भेद–

तर्कबुद्धि नियमों का संकाय है जहाँ नियमों (बुद्धि विकल्पों) के माध्यम से आभासों में एकता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है जबकि प्रज्ञा सिद्धान्तोंश का संकाय है जहाँ सिद्धातों के माध्यम से तर्कबुद्धि के नियमों में एकता स्थापित की जाती हैं। तर्क बुद्धि का सम्बंध इंद्रियानुभव से है जबकि प्रज्ञा इन्द्रियानुभव से सम्बन्ध स्थापित नहीं करती है, वह केवल तर्कबुद्धि से सम्बंध स्थापित करती है। काण्ट तर्कवाद का स्रोत सम्प्रत्ययों/कोटियों को तथा प्रज्ञा का स्रोत प्रत्ययों (Ideas) को मानते हैं। तर्कबुद्धि निर्णयों के द्वारा इन्द्रिय संवेदनों में एकता स्थापित करने का प्रयास करती है, जो पूर्ण नहीं होती है क्योंकि निर्णय से उच्चतर अनुमान होता है, जिसमें न्यायवाक्यों के रूप में विभिन निर्णयों में एकता स्थापित की जाती है।

उदा० – सभी मनुष्य मरणशील हैं। (निर्णय) –राम मनुष्य है। (निर्णय)

अतः राम मरणशील है। (निर्णयों की एकता)

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार बुद्धि की कोटियाँ वस्तु जगत को निर्धारित करने का कार्य करती हैं उसी प्रकार प्रज्ञा अपने अनुभवावीत प्रत्ययों – ईश्वर, आत्मा, जगत के चिन्तन के द्वारा अनुभवातीत सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करती है। प्रज्ञा का यह अनुचित प्रयास अनुभवातीत भ्राति का कारण बनता है। आत्मा से सम्बंधित युक्त मनोविज्ञान, निरपेक्ष कारणता से युक्त सृष्टि विज्ञान एवं ईश्वर के प्रत्यय से युक्त धर्म विज्ञान का जन्म होता है। जब बुद्धि विकल्पों का प्रयोग इन अनुभवातीत प्रत्ययों पर किया जाता है, तो तीनों विज्ञान अन्तर्विरोधों से ग्रस्त हो जाते हैं। बुध्दिपरक, मनो– विज्ञान में इन अन्तर्विरोधों को तर्काभास (Paralogisms), सृष्टि विज्ञान में विप्रतिषेध (Antinomies) तथा ईश्वर ज्ञान / धर्म विज्ञान में व्याघात (Contdeleteradictions) कहते हैं।

14.25 शब्दावली :

(1) **निरपेक्ष (Absolute) –** जो किसी अन्य पर निर्भर न हो।

(2) **प्रागनुभविक (Apriori) –** अनुभव से पूर्व अर्थात जिसके लिए अनुभव की अनिवार्यता न हो।

(3) **आनुभविक (Empirical) –** जो अनुभव का विषय हो।

(4) **आनुभविक (Pre-Conditions) –** किसी वस्तु या घटना के अस्तित्त्व की पूर्व शर्तें।

14.26 प्रश्नावली

लघु-उत्तरीय प्रश्न -

(1) काण्ट द्वारा प्रतिपादित देश–काल विचार का वर्णन करें।

(2) काण्ट देश काल को अनुभवजन्य मानते हैं या प्रागनुभविक, तर्क प्रस्तुत करें।

(3) क्या रिक्त देश एवं रिक्त काल संभव है।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न –

(1) देश-काल संबंधी मतों की समीक्षा करें?

(2) देश-काल के तात्त्विक निगमन के संदर्भ में काण्ट द्वारा प्रस्तुत तर्कों का मूल्यांकन करें?

14.27 उपयोगी पुस्तकें–

(1) काण्ट का दर्शन – संगमलाल पाण्डेय

(2) काण्ट का दर्शन – सभाजीत मिश्र

-------000-----

इकाई –15 – संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय

संरचना –

15.0 – उद्देश्य

15.1 – प्रस्तावना

15.2 – निर्णय का अर्थ

15.3 – निर्णयों का सामान्य वर्गीकरण

15.3.1 – उद्देश्य–विधेय के सम्बन्ध के आधार पर

15.3.2 – प्रामाणिकता या अनुभव की अपेक्षा के आधार पर

15.4 – काण्ट द्वारा संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथनों का प्रतिपादन क्यों ?

15.5 – काण्ट द्वारा निर्णयों का वर्गीकरण

15.6 – संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना

15.6.1 – गणित में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन

15.6.2 – ज्यामिति में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन

15.6.3 – प्राकृतिक विज्ञान में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन

15.6.4. – नीतिशास्त्र में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन

15.7 – क्या तत्त्वमीमांसीय कथन संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक है?

15.8 – काण्ट के मत की आलोचना

15.9 – शब्दावली

15.10– प्रश्नावली

15.11– संदर्भित पुस्तकें

15.0 उद्देश्यः–

ज्ञान की संभावना इकाई के अन्तर्गत निर्णय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसके सामान्य वर्गीकरण को प्रस्तुत किया गया है। काण्ट द्वारा निर्णयों के वर्गीकरण को पेश करते हुए संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना को व्यक्त किया गया है। संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की संभावना वाले प्रमुख क्षेत्रों–

गणित, ज्यामिति, प्राकृतिक विज्ञान एवं नीतिशास्त्र का वर्णन करते हुए काण्ट के उपर्युक्त मत के सन्दर्भ में आलोचकों के मत को दर्शाया गया है।

15.1 प्रस्तावना –

काण्ट के आलोचनावाद (Criticism) के प्रतिपादन से पूर्व पाश्चात्य दर्शन में प्रचलित विचारधाराओं – बुद्धिवाद (Rationalism) और अनुभववाद (Empiricism) में ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान के स्रोत, ज्ञान की सीमा इत्यादि के संदर्भ में व्यापक अन्तर्विरोध थे किन्तु दोनों कथनों/निर्णयों (Judgements) के वर्गीकरण के सन्दर्भ में सहमत थे। दोनों का मत था कि निर्णय दो प्रकार के होते हैं –विश्लेषणात्मक निर्णय और संश्लेषणात्मक निर्णय। काण्ट बुध्दिवाद एवं अनुभववाद द्वारा पृथक–पृथक रूप से प्रस्तुत ज्ञान के स्वरूप से सहमत नहीं है क्योंकि जहाँ बुद्धिवाद ज्ञान में अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता की बात करता है किन्तु नवीनता एवं वास्तविकता की नहीं वहीं अनुभववाद ज्ञान में नवीनता एवं वास्तविकता को तो मानता है, किन्तु अनिवार्यता और सार्वभौमिकता को नहीं। काण्ट दोनों पद्धतियों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के तत्वों को समाहित कर अपनी ज्ञान की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं, जिसमें वे अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता के साथ नवीनता एवं वास्तविकता को भी समाहित करते हैं। इसी क्रम में वे निर्णयों के वर्गीकरण के मेल से संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना व्यक्त करते हैं और विविध क्षेत्रों में अपने तर्को के माध्यम से इसे सिद्ध करते हैं।

15.2 निर्णय का अर्थ–

काण्ट के अनुसार निर्णय वह प्रतिज्ञाप्ति (Presupposition) है जिसमें एक उददेश्य एवं एक विधेय होता है। जैसे– (1) फूल लाल है। (निर्णय)

इसमें फूल उद्देश्य और लाल विधेय है।

मनुष्य मरणशील है। (निर्णय)

इसमें मनुष्य उद्देश्य है और मरणशील विधेय है।

15.3 निर्णयों का वर्गीकरण

काण्ट ने निर्णयों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया है –

प्रथम – आनुभविक व प्रागनुभविक

द्वितीय – संश्लेषणात्मक व विश्लेषणात्मक

15.3.1 उद्देश्य–विधेय के संबंध के आधार पर

उद्देश्य–विधेय में सम्बन्ध के आधार पर कथनों को दो प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है–विश्लेषणात्मक कथन एवं संश्लेषणात्मक कथन। विश्लेषणात्मक कथन, ऐसे कथन हैं, जिसमें विधेय, उद्देश्य में निहित होता है अर्थात उद्देश्य–विधेय में तादात्म्य सम्बंध होता है। इसमें विधेय, उद्देश्य के सम्बंध में नवीन सूचना नहीं देता है। ये अनिवार्य एवं सार्वभौम सत्य है। इन कथनों का निषेध व्याघाती होता है, ये कथन व्याख्यात्मक होते है।

जैसे – त्रिभुज त्रिकोणात्मक है।

–भौतिक वस्तुओं में विस्तार है।

संश्लेषणात्मक कथन, ऐसे कथन हैं जिसमें विधेय उद्देश्य में निहित नही होता है अर्थात् विधेय, उद्देश्य के सम्बन्ध में नवीन सूचना देता है। ऐसे कथनों में वास्तविकता एवं नवीनता होती है। इसका निषेध व्याघाती नहीं होता है।

जैसे –दीवार हरी है।

–घोड़ा काला है।

15.3.2 प्रामाणिकता या अनुभव की अपेक्षा के आधार पर :–

अनुभव की अपेक्षा के आधार पर कथनों को दो प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है – प्रागनुभविक कथन एवं आनुभविक कथन। प्रागनुभविक कथन, ऐसे कथन हैं जो अनुभव निरपेक्ष हैं अर्थात् उनकी प्रामाणिकता के लिए अनुभव की आवश्यकता नही होती है। यहाँ अनुभव निरपेक्ष होने से तात्पर्य यह नहीं है उसका अनुभव से कोई सम्बंध न हो। ज्ञान के अनुभव निरपेक्ष होने का तात्पर्य यह है कि वह अनुभव से उत्पन्न नहीं होता है। ये अनिवार्य एवं सार्वभौम होते हैं तथा इसका निषेध व्याघाती होता है। गणित एवं तर्कशास्त्र के कथन प्रागनुभविक कथन हैं, जैसे–

–त्रिभुज त्रिकोणात्मक है।

एवं 3+2 = 5

आनुभविक कथन, ऐसे कथन हैं जिनकी प्रामाणिकता का निर्धारण अनुभव के आधार पर होता है। ये कथन अनिवार्य रूप से सत्य न होकर संभाव्य होते हैं। इनका निषेध व्याघाती नहीं होता है।

जैसे – कुर्सी लाल है।

एवं संतरा मीठा है।

15.4 काण्ट द्वारा संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथनों का प्रतिपादन क्यों ?

बुध्दिवादी ज्ञान को अनिवार्य एवं सार्वभौम मानते हैं जबकि अनुभववादी ज्ञान को यथार्थ एवं नवीन मानते हैं। काण्ट के अनुसार बुद्धिवाद एवं अनुभववाद द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की परिभाषा में बुद्धिवादियों में नवीनता एवं यथार्थता का अभाव है तथा अनुभववादियों में अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता का अभाव है। यही कारण है कि बुद्धिवाद, रुढिवाद (Dogmatism) में और अनुभववाद, संशयवाद (Skecticism) में परिणत होता हैं। काण्ट के अनुसार ज्ञान में अनिवार्यता, सार्वभौमिकता, यथार्थता एवं नवीनता चारों का समावेश अनिवार्य है। ऐसा ज्ञान तभी संभव है जब संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथनों की संभावना को सिद्ध कर दिया जाये। इसी क्रम में काण्ट संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

15.5 काण्ट द्वारा निर्णयों का वर्गीकरण–

काण्ट ने उदेश्य एवं विधेय में सम्बंध के आधार पर निर्णयों का वर्गीकरण तथा प्रामाणिकता या अनुभव की अपेक्षा के आधार पर निर्णयों के वर्गीकरण के मेल से तीन प्रकारों में निर्णयों को बाँटा है।

उद्देश्य–विधेय के सम्बंध के आधार पर

⟶ विश्लेषणात्मक कथन

⟶ संश्लेषणात्मक कथन

- प्रामाणिकता या अनुभव की अपेक्षा के आधार पर

⟶ प्रागनुभविक कथन

⟶ आनुभविक कथन

⟶ दोनों वर्गीकरण को मिला देने पर चार प्रकार के निर्णय हो जाते हैं।

(1) विश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन – अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता संभव नहीं

(2) विश्लेषणात्मक आनुभविक कथन – संभव नहीं

(3) संश्लेषणात्मक आनुभविक कथन – यथार्थ एवं नवीनता

(4) संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन – अनिवार्यता, सार्वभौमिकता, यथार्थता एवं नवीनता

दोनों आधारों के मेल से कुल 4 प्रकार के कथन बन सकते हैं। विश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभविक कथनों के मेल से विश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन का निर्माण होता है। विश्लेषणात्मक होने के कारण इसमें विधेय उद्देश्य में निहित होता है तथा प्रागनुभविक होने के कारण इसके सत्यापन के लिए अनुभव की आवश्यकता नहीं होती है। ये अनिवार्य एवं सार्वभौम होते हैं किन्तु यथार्थता एवं नवीनता का अभाव पाया जाता है। बुद्धिवादी इन कथनों पर विशेष बल देते हैं।

जैसे– प्रत्येक भौतिक पिण्ड में विस्तार है। यहाँ विस्तृत होना भौतिक पिण्ड की स्वरुपगत विशेषता है। इसमें उद्देश्य श्भौतिक पिण्डश से विधेय विस्तार को तर्कतः निगमित किया जा सकता है। अतः विधेय, उद्देश्य के विषय में नवीन सूचना नहीं दे रहा है।

विश्लेषणात्मक एवं आनुभविक कथनों के मेल से विश्लेषणात्मक आनुभविक कथन का निर्माण होता है किन्तु काण्ट के अनुसार विश्लेषणात्मक आनुभविक कथन तर्कतः संभव नहीं है क्योंकि विश्लेषणात्मक होने के कारण इसके सत्यापन हेतु अनुभव की आवश्यकता नहीं हैं जबकि आनुभविक होने का अर्थ है इनका सत्यापन अनुभव से होना है। अतः यह तर्कतः संभव नहीं है।

संश्लेषणात्मक एवं आनुभविक कथनों के योग से संश्लेषणात्मक आनुभविक कथनों का निर्माण होता है। संश्लेषणात्मक होने के कारण विधेय, उद्देश्य में निहित नहीं होता है तथा आनुभविक होने के कारण इनका सत्यापन अनुभव से किया जा सकता है। ये नवीनता एवं यथार्थता के गुण से युक्त होते हैं। अनुभववादी इन्हें अत्यधिक महत्व देते हैं।

जैसे– गुलाब लाल है। यहाँ लालिमा का ज्ञान अनुभव के बिना नहीं हो सकता है, साथ ही लाल कह देने मात्र से गुलाब का अनिवार्यतः ज्ञान नहीं हो सकता है।

संश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभविक कथनों के मेल से संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथनों का निर्माण होता है। संश्लेषणात्मक होने के कारण विधेय, उद्देश्य में निहित नहीं होता है तथा विधेय उद्देश्य के सम्बन्ध में नवीन सूचना देता है जबकि प्रागनुभविक होने के कारण इसका सत्यापन अनुभव निरपेक्ष होता है। संश्लेषणात्मक कथन से इसमें नवीनता एवं यथार्थता आती है तथा प्रागनुभविक कथन से अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता आती हैं। काण्ट ऐसे निर्णयों को संभव मानते है।

ह्यूम ने संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की सत्यता पर संशय किया था और सिद्ध किया था कि वे अनिवार्य सत्य नहीं है। उनके अनुसार जो प्रागनुभविक है वह संश्लेषणात्मक नहीं हो सकता और जो संश्लेषणात्मक निर्णय है वह प्रागनुभविक नहीं हो सकता। किन्तु हम देखते हैं कि गणित, भौतिक विज्ञान और लोक व्यवहार के अधिकांश निर्णय प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक है क्योंकि ये अन्य निर्णय से निरपेक्ष हैं, इनके निषेध बाधित नहीं है। ऐसे निर्णय मानव ज्ञान और मानव जीवन के लिए आवश्यक है। काण्ट मानव ज्ञान को

संभव बनाने के लिए प्रश्न करता है कि संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय कैसे संभव है। यदि इसका उत्तर निषेध में है तो मानव ज्ञान संभव नहीं है और यदि हां में है तो मानव ज्ञान संभव है।

15.6 संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना–

काण्ट उपर्युक्त प्रश्न का समाधान अपने अध्ययन एवं तर्कों के द्वारा गणित, ज्यामिति, प्राकृतिक विज्ञान एवं नीतिशास्त्र द्वारा करते हैं।

15.6.1 गणित में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन –

काण्ट उदाहरण के माध्यम से गणित में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना को सिद्ध करते हैं। जैसे – 7+5 = 12

उपर्युक्त उदाहरण में 7+5 उद्देश्य है तथा 12 विधेय है। काण्ट कहते हैं यहाँ विधेय (12), उद्देश्य (7+5) में निहित नहीं है। यह उद्देश्य के सम्बंध में नवीन जानकारी देता है। 7+5 केवल दो अंकों के योग को बताता है, इससे क्या योगफल निकलेगा, उसे नहीं बताता है। अतः यह निर्णय संश्लेषणात्मक है, साथ ही इसकी प्रामाणिकता अनुभव निरपेक्ष है, इसलिए यह प्रागनुभविक है। प्रागनुभविक होने के कारण इस कथन में अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता है।

काण्ट कहते हैं कि छोटे अंकों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि विधेय, उद्देश्य में समाहित है किन्तु बड़े अंकों (संख्या) को लेने पर इसकी नवीनता स्पष्ट हो जाती है। जैसे– 450987+ 653245 (नवीन सूचना)

काण्ट के अनुसार गणित में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णयों की संभावना का कारण 'काल' (Time) है। काल शुद्ध आकार या शुद्ध संवेदन है जो प्रागनुभविक है। काल को दो विमाएँ– पूर्व एवं अपर है। अंकगणित के प्रत्यय इन्हीं विमाओं से निर्मित हैं।

15.6.2 ज्यामिति में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन –

काण्ट के अनुसार ज्यामिति के कथन संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक होते हैं। ज्यामिति के कथनों का संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक होने का कारण इनका 'देश' (Space) के प्रत्ययों पर आधारित होना है। देश शुद्ध संवेदन है जो प्रागनुभविक है। देश की तीन विमाएँ –लम्बाई, चौडाई एवं ऊँचाई हैं। ज्यामिति की सभी आकृतियाँ इन्हीं विमाओं से निर्मित हैं। ज्यामिति के कथन संश्लेषणात्मक हैं क्योंकि विधेय, उद्देश्य में निहित नहीं है।

15.6.3 प्राकृतिक विज्ञानों में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन–

काण्ट के अनुसार प्राकृतिक विज्ञान में भी संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन संभव हैं। यहाँ काण्ट स्पष्ट कहते हैं प्राकृतिक विज्ञानों के सभी निर्णय संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक नहीं होते हैं अपितु मूलभूत निर्णय ही संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक होते हैं जबकि अधिकांश निर्णय आनुभाविक होते हैं।

जैसे–'कारणता का नियम' अर्थात प्रत्येक कार्य का कारण होता है। यह एक सामान्य नियम है, जो प्रागनुभविक है जबकि किसी विशेष घटना के घटित होने के कारण को अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। प्राकृतिक विज्ञान के कथन बुद्धि विकल्पों के कारण संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक होते हैं क्योंकि बाह्य जगत से प्राप्त संवेदनों को व्यवस्थित–करने का कार्य बुद्धि–विकल्प करते हैं और कारणता एक बुद्धि विकल्प है।

15.6.4 नीतिशास्त्र में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन–

काण्ट अपनी कृति 'क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन' में नैतिक प्रत्ययों जैसे– नैतिक नियम, नैतिक मूल्य इत्यादि को संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कहते है। जैसे –'बड़ों का सम्मान करना चाहिए' एक नैतिक नियम है। यह अनुभव निरपेक्ष होने के कारण प्रागनुभविक है किन्तु इसका निषेध व्याघाती नहीं होता क्योंकि सभी लोग ऐसा नहीं करते हैं।

15.7 क्या तत्त्वमीमांसीय कथन संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक है?–

काण्ट के अनुसार तत्त्वमीमांसीय कथन संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक नहीं है क्योंकि तत्त्व मीमांसीय सम्प्रत्यय–ईश्वर, आत्मा स्वर्ग, नरक इत्यादि देश-काल में स्थित न होने के कारण इसके इन्द्रिय-संवेदन प्राप्त नहीं होते हैं। इन्द्रिय-संवेदनों के अभाव में इनका ज्ञान नहीं हो सकता है और इसके सम्बंध में कोई कथन भी नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार परमार्थ के सम्बन्ध में काण्ट अज्ञेयवाद का प्रतिपादन करते हैं।

15.8 काण्ट के मत की आलोचना–

काण्ट संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथनों की सम्भावना का प्रतिपादन ज्ञान में अनिवार्यता, सार्वभौमिकता एवं नवीनता के समावेश हेतु करते हैं किन्तु यह आलोचना से मुक्त नहीं है –

(1) तार्किक भाववादियों का मानना है कि संश्लेषणात्मक एवं आनुभविक निर्णय एक ही प्रकार के हैं। उसी प्रकार विश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभविक निर्णय भी एक ही प्रकार के हैं। अतः संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय मानने का अर्थ एक ही कथन को संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक दोनों मानना है। यह आत्म विरोधाभासी है।

(2) ए. जे. एयर का मत है कि संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक के निर्णयों के निर्धारण के क्रम में काण्ट ने पृथक–पृथक मानदण्डों का प्रयोग अपनी सुविधानुसार किया है। काण्ट गणित के कथनों को संश्लेषणात्मक निर्धारित करते समय मनोवैज्ञानिक मानदण्ड अपनाते हैं तथा इसकी प्रागनुभविकता का निर्धारण करते समय तार्किक मानदण्ड में मनोवैज्ञानिक मापदण्ड को अपनाते हैं। एयर के अनुसार यदि गणित के कथनों में मनोवैज्ञानिक मानदण्ड के स्थान पर तार्किक मानदण्ड का प्रयोग किया जाये तो यह सिद्ध हो जाता है कि गणितीय कथन संश्लेषणात्मक न होकर विश्लेषणात्मक हैं। अर्थात् विधेय, उद्देश्य में निहित है। जैसे– 7+5 12

(1+1+1+1+1+1+1) (1+1+1+1+1) = 1+1+1+1+1+1+1+1+1+1+1+1+1

1+1+1+1+1+1+1+1+1+1+1+1 = 1+1+1+1+1+1+1+1+1+1+1+1+1

(3) उत्कट अनुभववादी विचार क्वाइन (Quine) का मत है कि संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक कथनों में गुणात्मक अन्तर न होकर मात्रात्मक अन्तर होता है। वस्तुतः दोनों का सम्बन्ध अनुभव से है। संश्लेषी कथन अनुभव के केंद्र में होते हैं तथा विश्लेषी कथन अनुभव की परिधि पर होते हैं। जबकि काण्ट से संश्लेषी एवं विश्लेषी कथनों में गुणात्मक अन्तर माना है जो उचित नहीं है।

(4) प्राकृतिक विज्ञान के कथनों के संदर्भ में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथनों के माध्यम से काण्ट ने अनिवार्यता, सार्वभौमिकता एवं नवीनता का दावा किया है, यह तर्क संगत नहीं है। प्राकृतिक विज्ञानों (भौतिकी) के निष्कर्षो में नवीनता तो होती है किन्तु अनिवार्यता नहीं होती है क्योंकि भविष्य में इनके असत्य प्रमाणित होने की संभावना से विज्ञान इन्कार नहीं करता है और ऐसे कई दृष्टान्त हैं, जब विज्ञान के कथन असत्य प्रमाणित हुए हैं । अतः ये अनिवार्य नहीं होते हैं, सिर्फ संभाव्य होते हैं।

निष्कर्षतः काण्ट द्वारा प्रतिपादित संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की अवधारणा ज्ञान की आंशिकता को दूर कर ज्ञान को सम्पूर्णता में परिभाषित करने का प्रयास था। जिसमें ज्ञान अनिवार्यता, सार्वभौमिकता एवं नवीनता से युक्त हो। किन्तु काण्ट की इस अवधारणा पर समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों ने तीव्र प्रतिक्रिया की

है, उन्होंनें संश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभविक पदों के संयोजन को असंगत बताया है तथा कहा कि इनके पक्ष में प्रस्तुत तर्कों में काण्ट ने सुविधानुसार तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक आधारों का प्रयोग किया है जो उचित नहीं है।

15.9 शब्दावली

(1) निरपेक्ष (Absolute) : जिसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा न हो।

(2) व्याघात नियम (Law of contradiction) : दो तर्कों के मध्य विरोध होना

(3) तार्किक भावावाद (Logical Pasitivism) : एक दार्शनिक विचारधारा जो संश्लेषणात्मक एवं प्रागनुभविक कथनों को ही सार्थक (Meannigful) मानती है।

15.10 प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्नः–

(1)निर्णय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसका सामान्य वर्गीकरण प्रस्तुत करें।

(2)संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय से आप क्या समझते है ?

(3) काण्ट संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय का प्रतिपादन क्यों करते हैं?

(4) संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय के विरुद्ध उठायी गयीं आपत्तियों का वर्णन करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

(1) काण्ट किन क्षेत्रों में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना को सिध्द करते हैं?

(2) संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभावना का मूल्यांकन करें।

15.11 उपयोगी पुस्तकें

1. काण्ट का दर्शन : सभाजीत मिश्र
2. काण्ट का दर्शन : संगल लाल पाण्डेय
3. पाश्चात्य दर्शन का उद्‌भव और विकास : हरिशंकर उपाध्याय

.....0000.....